हिन्दी में आत्मकथा साहित्य

(Autobiography Literature in Hindi)

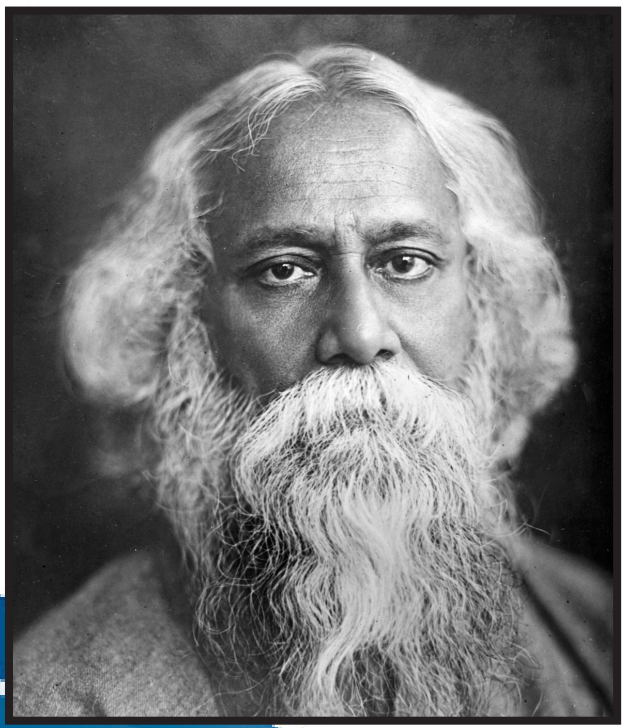

जागृति सिंह

हिन्दी में आत्मकथा साहित्य

हिन्दी में आत्मकथा साहित्य

(Autobiography Literature in Hindi)

जागृति सिंह

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5610-3

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

उपन्यास, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रा वृत्तान्त और डायरी की ही भाँति आत्मकथा नामक साहित्यिक विधा का भी आगमन पश्चिम से हुआ है। डॉ. नामवर सिंह ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि 'अपना लेने पर कोई चीज परायी नहीं रह जाती, बल्कि अपनी हो जाती है।' इसलिए बहस अपनाव को लेकर नहीं, उसकी चेतना और प्रक्रिया को लेकर हो सकती है।

आधुनिक काल में पाश्चात्य संस्कृति से संवाद स्थापित होने पर हिन्दी के रचनाकारों ने इन विधाओं को अपनाया और अपने जातीय संदर्भ से जोड़कर उन्हें विकसित किया। महात्मा गांधी कहते थे कि अपने चिन्तन के दरवाजे और खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिए, ताकि विश्व की विभिन्न संस्कृतियों की हवाएँ उसमें बे-रोक-टोक आएँ-जाएँ, मगर यह ध्यान रहे कि उसी समय अपनी सांस्कृतिक परम्परा में हमारी जड़ें बहुत गहरी और मजबूत हों।

प्राचीनकाल से साहित्यिक परम्परा में आत्मकथा की अनुपस्थिति के सांस्कृतिक कारण हैं। दर्शन में वास्तविक महत्ता आत्मा की रही है। जहाँ मनुष्य के अस्तित्त्व को ही नश्वर माना जाता हो, वहां स्वतंत्रता को महत्त्व नहीं मिलना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। चूँकि आत्मा ही वास्तविक है और सारे मनुष्यों में समान है, इसलिए दार्शनिकों का तर्क है कि सभी मनुष्य अन्ततः एक हैं। वैयक्तिक्ता, आत्मवत्ता या फिर विशिष्टता का बोध– इनको एक-दूसरे के पर्याय के रूप में 'माया' की माना जाता है। चूँकि आत्मकथा एक स्वतंत्र 'आत्म' की कथा है, इसलिए उसे अपने जन्म और विकास के लिए ऐसी संस्कृति की जरूरत होती है, जिसमें वैयक्तिकता को महत्त्व और पोषण प्राप्त हो।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है, मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**आत्मकथा**	**1**
	आत्मकथा की विकास-यात्रा	2
	प्राचीन साहित्य में आत्मकथा	3
	प्रथम चरण (1600-1875)	3
	द्वितीय चरण (1876-1946)	4
	तृतीय चरण (1947- अब तक)	8
	अस्मितावादी आत्मकथाएँ	11
	हिन्दी आत्मकथा का इतिहास	15
	साहित्यिक आत्मकथाएँ	21
	प्राचीन संस्कृत साहित्य में आत्मकथात्मक संकेत	22
	आधुनिक काल में आत्मकथा	23
	छायावादोत्तर युग में आत्मकथा	24
	हिंदी आत्मकथा का विकास	33
	आत्मकथा की विशेषताएं	42
	अस्मिता और आत्मकथा की चुनौतियां	46
2.	**हिंदी की पहली आत्मकथा**	**56**
3.	**आत्मकथा साहित्य में स्त्री वेदना का स्वरूप**	**63**
	एक	65
	दो	74

4. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा का विश्लेषण 95
5. चाली चैप्लिन की आत्मकथा का विश्लेषण 99
6. हिंदी आत्मकथा साहित्य 199

1

आत्मकथा

आत्मकथा हिन्दी साहित्य में गद्य की एक विधा है, जैसे- लेखक सिद्धलिंगय्या द्वारा रचित आत्मकथा गाँव गली। हिन्दी साहित्य में बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथानक' को पहली आत्मकथा माना जाता है। इसकी रचना सन् 1641 ई. में हुई। सत्रहवीं शताब्दी में रचित जीवन के इस अर्द्धकथानक में घटना, चरित्र-चित्रण, देशकाल, रोचकता, उद्देश्य प्रवृत्ति का सजग निर्वाह आत्मकथात्मक के साथ है। यह आत्मकथा स्व और अहम् के त्याग की दीनता भरी धारणा और कण-कण में धर्म की छवि देखने वाली भारतीय मानसिकता से अलग अपने बारे में निःसंकोच स्वीकार करती कवि-आत्म-कथाकार की परम्परा विरोधी साहसिकता की परिचायक है और साथ ही भारतीय मानसिकता पर दुराव का आरोप लगाने वालों के लिए एक बड़ा प्रश्न चिह्न भी।

अर्द्धकथानक में दो प्रकार के ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं- एक वे जिनका सम्बन्ध कवि के जन्मकाल के पूर्व से है और दूसरे वे जिनका सम्बंध उसके जीवनकाल से है। पहले प्रकार के उल्लेखों की एतिहासिकता पर कदाचित हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं। दूसरे प्रकार के उल्लेखों को इतिहास की कसौटी पर इतिहासकारों और पाठालोचन के विशेषज्ञों ने परखा है, और कई ऐतिहासिक घटनाओं की प्रामाणिकता पाने पर डा. माता प्रसाद गुप्त ने 'भूमिका' में 'अर्द्धकथा' की ऐतिहासिकता भली-भाँति प्रमाणित है जैसी निश्चित टिप्पणी दी है।

एक असफल व्यापारी की कथा के रूप में कृति ने व्यापारी वर्ग को जिन यातनाओं, संकटों और असुविधाओं को झेलना पड़ा उन परिस्थितियों का व्यापक

रूप में चित्रण किया है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने 'अर्द्धकथा' का महत्त्व एक अन्य दृष्टि में और भी अधिक पाया है-

''वह मध्यकालीन उत्तरी भारत की सामाजिक अवस्था तथा धनी और निर्धन प्रजा के सुख-दुख का यथार्थ परिचय देती है। बादशाहों की लिखी दिनचर्याओं और मुसलमान इतिहास लेखकों द्वारा लिखित तत्कालीन तारीखों से हमें शासन और युद्ध सम्बन्धी घटनाओं की अटूट शृंखलाएँ भले ही मिल जाएँ, किंतु इतिहास के उस स्वर्ण युग में राजधानियों से दूर हिन्दू जनता-विशेष करके धनी और व्यापारी वर्ग को अहर्निश कितनी यातनाएँ भोगनी पड़ती थी, इसका अनुमान उन दिनचर्याओं और तारीखों से नहीं किया जा सकता। उसके लिए हमें 'अर्द्धकथा' ऐसी रचनाओं का ही आश्रय लेना पड़ेगा।'' ब्रजभाषा और खड़ी बोली हिन्दी बोलने वाले क्षेत्र को ही कवि ने मध्यदेश के शब्द से सम्बोधित किया है। व्याकरण की दृष्टि से भी कृति में अनेक विशिष्ट प्रयोग मिलते है।। इसमें विसर्ग और ल् के अतिरिक्त देवनागरी के समस्त स्वरों और व्यंजनों का प्रयोग हुआ है। उच्चारण सौंदर्य की दृष्टि से कहीं स्वर बढ़ाया गया है तो कहीं किसी अक्षर का लोप ही कर दिया गया है। 'कर्ता' और 'कर्म' के प्रयोग वर्तमान हिन्दी में अपने चलन के अनुसार है।

आत्मकथा की विकास-यात्रा

उपन्यास, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रा वृत्तान्त और डायरी की ही भाँति आत्मकथा नामक साहित्यिक विधा का भी आगमन पश्चिम से हुआ है। डॉ. नामवर सिंह ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि 'अपना लेने पर कोई चीज परायी नहीं रह जाती, बल्कि अपनी हो जाती है।' इसलिए बहस अपनाव को लेकर नहीं, उसकी चेतना और प्रक्रिया को लेकर हो सकती है। आधुनिक काल में पाश्चात्य संस्कृति से संवाद स्थापित होने पर हिन्दी के रचनाकारों ने इन विधाओं को अपनाया और अपने जातीय संदर्भ से जोड़कर उन्हें विकसित किया। महात्मा गांधी कहते थे कि अपने चिन्तन के दरवाजे और खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिए, ताकि विश्व की विभिन्न संस्कृतियों की हवाएँ उसमें बे-रोक-टोक आएँ-जाएँ, मगर यह ध्यान रहे कि उसी समय अपनी सांस्कृतिक परम्परा में हमारी जड़ें बहुत गहरी और मजबूत हो।

प्राचीनकाल से साहित्यिक परम्परा में आत्मकथा की अनुपस्थिति के सांस्कृतिक कारण हैं। दर्शन में वास्तविक महत्ता आत्मा की रही है। जहाँ मनुष्य

के अस्तित्त्व को ही नश्वर माना जाता हो वहां स्वतंत्रता को महत्त्व नहीं मिलना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। चूँकि आत्मा ही वास्तविक है और सारे मनुष्यों में समान है, इसलिए दार्शनिकों का तर्क है कि सभी मनुष्य अन्ततः एक है। वैयक्तिक्ता, आत्मवत्ता या फिर विशिष्टता का बोध– इनको एक-दूसरे के पर्याय के रूप में 'माया' की माना जाता है। चूँकि आत्मकथा एक स्वतंत्र 'आत्म' की कथा है, इसलिए उसे अपने जन्म और विकास के लिए ऐसी संस्कृति की जरूरत होती है, जिसमें वैयक्तिकता को महत्त्व और पोषण प्राप्त हो।

प्राचीन साहित्य में आत्मकथा

प्राचीन साहित्य में आत्मकथा की परम्परा भले ही नहीं रही हो लेकिन ऐसा नहीं है कि कथाकारों ने आत्म वचन को नहीं अपनाया हो। एक सूक्ष्म जाँच-पड़ताल के बाद आत्मकथा-सरीखी साहित्यिक अभिव्यक्ति के कुछ टुकड़े जरूर मिलते हैं, हालांकि उनसे कोई संतुष्टि नहीं मिल पाती है। हर्षचरित का वह आरम्भिक हिस्सा है, जिसमें रचयिता बाणभट्ट ने अपमान, वंचना और हताशा में भरे अपने बचपन, विद्यार्थी जीवन और शुरूआती युवावस्था की चर्चा की है। इसी तरह कुछ और नाम भी आते हैं जिनमें बिलहण (विक्रमांकदेव चरित), दण्डी (दशकुमारचरित) आदि प्रमुख हैं। प्राप्त सामग्री के आधार पर काल क्रमानुसार इतिहास की दीर्घा में आत्मकथाओं के तीन निश्चित चरण दिखते हैं–

प्रथम चरण (1600-1875)

प्रथम चरण के सुदीर्घ कालखण्ड में तीन महत्वपूर्ण आत्मकथाएँ मिलती हैं। हिन्दी में सत्रहवीं शताब्दी में रचित बनारसीदास 'जैन' की 'अर्द्धकथानक' (1641ई.) अपनी बेबाकी में चौंकाने वाली आत्मकथा है। बनारसीदास की अर्द्धकथा के बाद एक लम्बा कालखण्ड अभिव्यक्ति की दृष्टि से मौन मिलता है। इस लम्बे मौन को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1860 में अपने 'आत्मचरित' से तोड़ा है। दयानन्द सरस्वती जी का स्वकथित जीवन वृत्तान्त अत्यन्त संक्षेप में भी अपने वर्तमान तक पहुंचने की कथा का निर्वाह निजी विशिष्ट चेतना के साथ करता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी आत्मकथा में अपने प्रारम्भिक जीवन के चित्रण के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों को दर्शाया

है। घर से भागने, वैरागी के हाथ पड़ने, पिता के द्वारा पकड़े जाने, पुनः भागने, तदनन्तर संन्यास लेने और विभिन्न गुरुओं से सम्बद्ध कथायें 'जीवन चरित्र' में आती हैं। अपने द्वारा किए गए शैवमत के खण्डन, भागवत के खण्डन आदि अनेक शास्त्रर्थ की चर्चा, साथ ही आर्य समाज की उन्नति के लिए समर्पित उनका स्वयं का व्यक्तित्त्व इस संक्षिप्त आत्मकथा को धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाता है। ईश्वर की इस प्रार्थना से लेखक अपनी इस आत्मकथा का समापन करता है– "...ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि सर्वत्र आर्य समाज कायम होकर पूजादि दुराचार दूर हो जाएं, वेद शास्त्रों का सच्चा अर्थ सबकी समझ में आएं और उन्हीं के अनुसार लोगों का आचरण होकर देश की उन्नति हो जाएं।"

सन् 1909 तथा 1918 ई. में दो खण्डों में सत्यानन्द अग्निहोत्री का आत्मचरित्र 'मुझमें देव-जीवन का विकास' प्रकाशित हुआ। इसमें आत्मकथा कम और उपदेशात्मकता अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने आर्यसमाज के प्रचार की प्रतिस्पर्द्धा में देव-समाज के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने हेतु इस ग्रन्थ को रचा था। आस्तिकता और वैदिक विचारधारा का खण्डन इस आत्मकथा का प्रमुख हिस्सा है।

सीताराम सूबेदार द्वारा रचित 'सिपाही से सूबेदार तक' जैसी आत्मकथा अपने अंग्रेजी अनुवादों के अनेक संस्करणों में उपलब्ध है। आत्मकथाकार की सैनिक बनने की अपनी महत्त्वाकांक्षा, मामा के द्वारा दिया गया प्रोत्साहन, घर का विरोध और अन्ततः 'खूब जवान' हो जाने पर फौज के लिए प्रस्थान जैसी घटनाएँ आत्मकथा को रुचिकर बनाती हैं। आत्म-कथाकार अपनी अड़तालीस वर्षों की ब्रितानी फौज की सेवा में पाये जंग के घाव, चोट के निशानों और छह मंडलों के प्रति सर्वोत्तम है। बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है इस आत्मकथा का अपने मौलिक रूप हिन्दी में नहीं उपलब्ध होना।

द्वितीय चरण (1876-1946)

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के छोटे आत्मकथात्मक लेख 'एक कहानीः कुछ आप बीती कुछ जग बीती' से प्रारम्भ हुई। द्वितीय चरण में आत्मकथाएँ अनेक छोटे-बड़े प्रयोग करती है। इस छोटे-से लेख में भारतेन्दु ने अपने निज एवं अपने परिवेश को अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि के साथ उकेरा है। दो पृष्ठों में लिखा गया यह लेख आत्मकथा की विधा के भविष्य के लिए पुष्ट बीज है। अपना परिचय देने के क्रम में आत्मकथाकार ने अपनी सहृदयता का यथेष्ट प्रमाण दिया है-

"जमीन चमन गुल खिलाती है क्या-क्या?
बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे।"

"हम कौन है और किस कुल में उत्पन्न हुए हैं आप लोग पीछे जानेंगे। आप लोगों को क्या, किसी का रोना हो पढ़े चलिए जी बहलाने से काम है। अभी इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ, यह जैन और वैदिक दोनों में बड़ा पवित्र दिन है।"

इस चरण में कई महत्वपूर्ण आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई- राधाचरण गोस्वामी की 'राधाचरण गोस्वामी का जीवन चरित्र'- इस छोटी सी कृति में वैयक्तिक संदर्भों से ज्यादा तत्कालीन साहित्य और समाज की चर्चा का निर्वाह किया गया है। भाई परमानन्द की 'आप बीती (मेरी राम कहानी)' का प्रकाशन वर्ष 1922 ई. है।

स्पष्टवादिता, सच्चाई के लिए प्रसिद्ध, वैदिक धर्म के सच्चे भक्त परमानन्द की आपबीती का अपनी तत्कालीन राजनीतिक स्थिति में एक विशेष राजनीतिक महत्त्व है। गिरफ्तारी का पहला दिन, हवालात की अंधेरी कोठरी के अन्दर, न्याय की निराशा जैसे शीर्षकों में आपबीती विभक्त है, जो कहीं न कहीं 'डायरी' के समीप लगती है।

जेल की सजाओं, षड्यन्त्रों, अंधेरे में बिताये अकेले घण्टी और वहाँ की गन्दगी के बारे में बताता लेखक जेल के माध्यम से सुधार करने की आशा को एक कल्पित स्थिति घोषित करता है- "यह वह स्थान है, जहाँ मनुष्य समाज के गिरे हुए आदमी इकट्ठे कर दिये जाते हैं, ताकि वे अपने मन के विचारों को एक-दूसरे से बदलते हुए उनके अनुसार अपना काल व्यतीत करें। जब कोई अच्छी प्रकृति का मनुष्य इनमें डाल दिया जाता है, तो कुछ समय तक तो उसे घृणा-सी आती है, परन्तु कुछ समय वहाँ रहने के पश्चात् वह भी वैसा ही हो जाता है, जैसा कि एक मल उठाने वाले भंगी की सन्तान जिनकी नाक में गन्ध सूँघने की शक्ति मर जाती है।"

20वीं शती के चौथे दशक में ही महात्मा गांधी ने 'आत्म-दर्शन' की अपनी जीवनव्यापी कोशिशों को आत्मकथा का रूप दिया, जिसे उन्होंने 'सत्य के प्रयोग' की संज्ञा दी। मूल रूप से यह आत्मकथा गुजराती में थी जो अनुदित होकर बाद में हिन्दी में भी प्रकाशित होती है। आत्मकथा की प्रस्तावना में अपने उद्देश्यों की घोषणा करते हुए उन्होंने लिखा है-

''मुझे जो करना है, तीस वर्षों से मैं जिसकी आतुर भाव से रट लगाए हुए हूँ, वह तो आत्म-दर्शन है,ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरे सारे काम इसी दृष्टि से होते हैं। मेरा सब लेखन भी इसी दृष्टि से होता है, और राजनीति के क्षेत्र में मेरा पड़ना भी इसी वस्तु के अधीन है।''

गांधी इस बात से सहमत थे कि आत्मकथा लिखने का पश्चिमी ढंग अनिवार्यत: आत्म-केन्द्रित और अहम्मन्यतापूर्ण है। परन्तु गांधी ने अपने व्यक्ति या 'मैं' के बजाय 'आत्मा' को आत्मकथा के केन्द्र में लाकर इन पाश्चात्य विकृतियों का प्रतिकार किया। सही मायने में गाँधीजी ने आत्मकथा का भारतीयकरण किया है।

कृति के शीर्षक 'सत्य के प्रयोग' से भी यह प्रतीति स्पष्टत: होती है कि लेखक अपने जीवन को प्रयोग-स्थल बनाकर उस पर अनेक परिस्थितियों में बार-बार नये परीक्षण करके उनके परिणाम संसार के सामने रखने की चेष्टा कर रहा है। इसके अलावा उन्होंने स्पष्ट किया कि भारतीय जनता उनके जीवन-विश्वास और जीवन व्यवहार का अन्धानुकरण न करे, क्योंकि उनकी बातें 'अन्तिम और सच' नहीं है। सत्य को उन्होंने पाया नहीं है, बल्कि उसे पाने की निरन्तर अथक कोशिश की है। उनकी इस कोशिश से प्रेरित होकर, उनके जीवन-प्रसंगों के अन्तरंग हिस्सेदार बनकर अन्य लोग अपने-अपने ढंग, क्षमता और विवेक के मुताबिक यह कोशिश कर सकते हैं। इस तरह वे ज्यादा से ज्यादा अपने यहाँ एक बड़े पैमाने पर सत्य के प्रयोगों की इस संस्कृति का निर्माण तथा विकास चाहते थे। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि इस काम के लिए आत्मकथा से उपयुक्त माध्यम और कुछ हो ही नहीं सकता था।

सन् 1932 में मुंशी प्रेमचंद ने 'हंस' का एक विशेष आत्मकथा-अंक सम्पादित करके, अपने यहाँ आत्मकथा विधा के विकास की एक बड़ी पहल की थी। तब के एक नए समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस अंक में लिखना तो स्वीकार नहीं ही किया, उलटे इस योजना का जबरदस्त सैद्धान्तिक विरोध किया। मसलन वाजपेयी जी आत्मकथा न लिखने को आत्म-त्याग के महान् दर्शन से 'जोड़' रहे थे और जो परम्परा में नहीं है, पर जो परम्परा में नहीं है उन्हें आधुनिक विवेक के साथ अपनाया और समृद्ध भी तो किया जा सकता है। इस प्रसंग में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को याद करना जरूरी है– ''फिर यूरोपीय प्रभाव होने मात्रा से कोई चीज अस्पृश्य नहीं हो जाती। प्रेमचंद की कहानियाँ, बैताल पचीसी के ढंग की न होकर आधुनिक यूरोपीय कहानियों के ढंग की हुई

हैं, इतना कह देने से प्रेमचन्द का महत्त्व कम नहीं हो जाता। प्रभाव तो मनुष्य पर तब तक पड़ेगा, जब तक उसमें जीवन है। जहाँ जीवन का वेग अधिक है, प्राण धारा बहाव तेज है, उसी स्थान से उसका ऐश्वर्य छितराएगा ही। आलोक सीमा में बंधना नहीं चाहता उसका धर्म ही प्रकाशित होना और प्रकाशित करना है।''

1941 में प्रकाशित आत्मकथा 'मेरी आत्म कहानी' के आत्मकथाकार प्रसिद्ध साहित्यकार श्यामसुन्दर दास हैं। सम्पूर्ण कृति में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना, विकास, गति, तत्कालीन हिन्दी और हिन्दी की स्थिति की चर्चाएँ हैं। एक उच्चकोटि के भाषाविद् की आत्मकथा होने के बावजूद भी आत्मकथा में भाषा-शैली का या अभिव्यक्ति का माधुर्य नहीं है। पत्रों के उद्धरण, अंग्रेजी दस्तावेज, आँकड़ों का विस्तृत वर्णन लेखक के ऐतिहासिक महत्त्व को प्रमाणित तो करते हैं, लेकिन आत्मकथा की सहज निर्बन्ध वैयक्तिक गति को खंडित करते हैं।

सन् 1942 ई. में बाबू गुलाबराय की आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ' शीर्षक से प्रकाशित हुई। यह आत्मकथा अत्यन्त ही रोचक एवं व्यंग्य-विनोदपूर्ण है, साथ ही लेखक के व्यक्तित्त्व, चरित्र, कार्यक्षमता पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश डालती है।

हरिभाऊ उपाध्याय की आत्मकथा 'साधना के पथ पर' 1946 ई. में प्रकाशित हुई, जिसमें लेखक ने 1842 से 1945 तक के जीवनानुभवों को लिपिबद्ध किया है। यह कृति अनेक जगहों पर उपदेशात्मक हो गयी है, लेकिन ऐसा सोद्देश्य हुआ है, क्योंकि लेखक ने भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि हो सकता है, ये अनुभव पाठकों के लिए उपयोगी हों।

राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा पांच खण्डों में 'मेरी जीवन यात्र' शीर्षक से प्रकाशित हुई। इनमें से पहले दो खण्ड उनके जीवनकाल में क्रमशः 1946 तथा 1947 में प्रकाशित हुए तथा शेष तीन खण्डों का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद सन् 1967 में हुआ था। आत्मकथा में राहुल सांकृत्यायन के जीवन के 62 सालों का चित्रण है। प्रथम खण्ड में वंश-परिचय, जन्म, शैशव, शिला व तारुण्य का वर्णन है। तथा दक्षिण भारत की यात्रा, मठ का आश्रय, आर्य समाज से सम्पर्क, महात्मा गाँधी के प्रभाव आदि का दिग्दर्शन है। द्वितीय खण्ड में लंका, तिब्बत, जापान, रूस व यूरोप आदि की यात्रा, किसान सत्याग्रह, जेलयात्र, बौद्ध धर्म व साम्यवाद से प्रभावित होने की कथा है। तृतीय खण्ड में सोवियत प्रदेश

के त्रि-वर्षीय निवास (1944 से 1947 तक) का वर्णन है। चतुर्थ खण्ड में 1947 से 1950 तक की घटनाओं का विवरण है। इस खण्ड का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है उनका हिन्दी के प्रति समर्पण तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में उनका योगदान। अंतिम खण्ड में आत्मकथाकार ने साहित्यिक समस्याओं का उद्‌घाटन किया है।

इस विशाल और व्यापक आत्मकथा में लेखक की साहित्यिक अभिरुचियों, वैयक्तिक गुण-दोषों, अनुभूतियों, भावनाओं, यात्रओं तथा विशिष्ट उपलब्धियों का विस्तृत वर्णन हुआ है। स्थान-स्थान पर उनकी रचनाधर्मिता, रचना-प्रक्रिया तथा लेखन स्रोतों का भी उल्लेख है। डॉ. हरदयाल के शब्दों में "मुहावरेदार भाषा में लिखी गयी यह आत्मकथा उनकी यायावरी, विद्याव्यसनी एवं विद्रोही वृत्ति से साकार हो उठी है।"

तृतीय चरण (1947- अब तक)

औपनिवेशिक काल के दौरान विपरीत परिस्थितियों में जन्मी देश की जाग्रत व्यक्तिनिष्ठ एवं सामूहिक चेतना अभिव्यक्ति के इस विशिष्ट क्षेत्र की ओर भी गतिमयता के साथ प्रवाहित हुई। तत्कालीन राष्ट्रीयता का प्रभाव आत्मकथाओं के विस्तार में प्रतिच्छायित है।

1947 में प्रकाशित बाबू राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' में जीवन की दीर्घकालीन घटनाओं का अंकन एवं स्वचित्रण बिना किसी लाग-लपेट के तटस्थता के साथ आत्मकथा में सम्पादित है। लेखक के बचपन के तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजों का, संकुचित प्रथाओं से होने वाली हानियों का, तत्कालीन गँवई जीवन का, धार्मिक व्रतों, उत्सवों और त्यौहारों का, शिक्षा की स्थितियों का हू-ब-हू चित्र राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' में अंकित है। तत्कालीन हिन्दू-मुसलमानों के बीच की असाम्प्रदायिक सहज सामान्य सामाजिक समन्वय की भावना का चित्र भी आत्मकथा अनायास ही उकेरती है। सरदार बल्लभभाई पटेल 'आत्मकथा' को मात्रा कृति ही नहीं इतिहास मानते हैं- ''प्राय: पिछले 25 वर्षों से हमारा देश किस स्थिति को पहुँच गया है, इसका सजीव और एक पवित्र देशभक्त के हृदय में रंगा हुआ इतिहास पाठकों को इस आत्मकथा में मिलेगा।''

1951 में प्रकाशित स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की 'स्वतंत्रता की खोज में, अर्थात् मेरी आत्मकथा' हिन्दी की अत्यन्त महत्वपूर्ण आत्मकथा है। स्वतंत्रता की

खोज में भटकते पथिक की यह कथा मानवता से जुड़ी आत्मा की छटपटाहट एवं तत्कालीन भारतीय राजनीतिक स्थितियों से सम्बद्ध है।

यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' का प्रकाशन लखनऊ से तीन खण्डों में हुआ है। प्रथम खण्ड में लेखक के बाल्य, शिक्षा तथा क्रान्तिकारी दल के कार्यों का उल्लेख होने से वैयक्तिक जीवन पर प्रचुर प्रकाश पड़ा है। कृति में आन्दोलन की घटनाओं की रहस्यात्मकता और रोमांचता के साथ-साथ अपनी विशिष्ट क्रान्तिकारी विचारधारा के महत्त्व को लेखक ने निरूपित किया है, व्यक्ति, परिवार और राजनीतिक दासता की स्थितियाँ और उनमें पनपती और विकसित होती क्रान्तिकारी चेतना को एकसाथ अंकित करती यह आत्मकथा (सशस्त्र क्रान्ति की कहानी) की शैली विवेचनात्मक है। जो कहीं न कहीं उनके उपन्यासों की भाँति रोचक और मर्मस्पर्शी है।

पिता की पुण्य स्मृति के साथ इस आत्मकथा का प्रारम्भ होता है। यह कृति तत्कालीन हिन्दू और मुसलमानों के आपसी सद्भाव को अंकित करती युगीन प्रवृत्तियों को चित्रित करती है। राजस्थानी शब्दों का अत्यन्त सहजता के साथ हिन्दी में घुलामिला स्वरूप आत्मकथा को असाधारण बनाता है।

हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार और हिन्दी सेवी सेठ गोविंददास की आत्मकथा के तीन भाग 'प्रयत्न, प्रत्याशा और नियतारित' उपशीर्षकों सहित 'आत्म-निरीक्षण' शीर्षक से 1957 ई. में प्रकाशित हुए। तथ्यात्मकता, विश्लेषणात्मकता, निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता आदि गुणों के कारण यह आत्मकथा और महत्वपूर्ण हो जाती है। लेखक ने अपने किये प्रेम और पिता की वेश्यानुसक्ति तक को नहीं छुपाया है। लेखक का सजग व्यक्तित्त्व उसकी आत्मकथा में सर्वत्र मुखर है। गांधी तथा नेहरू तक की आलोचना करने में उसने झिझक नहीं दिखाई। साहित्यकार सेठ गोविन्दास की आत्मकथा की भाषा शैली की सृजनात्मकता इस विशिष्ट विधा को एक और आयाम देती है।

चतुरसेन शास्त्री की दो आत्मकथाएं– 'यादों की परछाइयां' (1956), तथा 'मेरी आत्म कहानी' (1963) प्राप्त होती है। 'यादों की परछाइयां' में लेखक के निजी जीवन के क्रमिक ब्यौरे का अभाव है, जबकि मरणोपरांत प्रकाशित 'मेरी आत्म कहानी' में पहले दो अध्यायों को छोड़कर शेष भाग अप्रामाणिकता का प्रश्नचिन्ह लगाये हुए हैं। डा. हरदयाल के शब्दों में "इसका कारण यह है कि पहले दो अध्याय तो लेखक ने स्वयं लिखे हैं तथा शेष अंश लेखक द्वारा छोड़े गये नोट्स के आधार पर उसके अनुज चंद्रसेन ने लिखा है।

चूंकि इस बात का कहीं कोई संकेत नहीं है कि शेष अंश में से कितना चतुरसेन का है तथा कितना चंद्रसेन का। फलतः इस कृति को आत्मकथा की परिधि में रखना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।"

छठे दशक के प्रारम्भ में ही पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा 'अपनी खबर' प्रकाशित हुई। दुषित एवं गर्हित परिवेश, पितृ-प्रेम का अभाव तथा उन्मत्त एवं क्रोधी भाई साहब का नियन्त्रण, 'उग्र' की नियति थी। 'अपनी खबर' में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने मुक्तिबोध के से आत्मीय और आकुल आवेग के साथ अपनी 'अजीब जिंदगी में आए कुछ प्रमुख व्यक्तियों के चरित्र की गहरी छानबीन की है।

उग्र के सम्बंध में पंकज चतुर्वेदी का यह कथन सशक्त मालूम होता है, ''जिस समाज के साहित्य में जीवन के गर्हित सच से मुँह चुराने की नैतिक दुर्बलता के कारण न तो आत्मकथाओं की समृद्ध परम्परा बन पायी हो और न सशक्त वर्तमान, उसी हिन्दी समाज में रहते हुए उग्र ने उस दुनिया के वीभत्स अंधेरों को उजागर किया, जिसके वे मूक दर्शक नहीं रह पाए बल्कि विवश हिस्सेदार हुए।''

लोकप्रियता के क्रम में महात्मा गांधी और पण्डित नेहरू के बाद हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा आती है जिसने गद्य की इस विधा के लेखन में नवीन कीर्तिमान स्थापित किए हैं। आत्मकथा का प्रथम खण्ड 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' 1969 ई. में प्रकाशित हुआ। द्वितीय खण्ड 1970 ई. में 'नीड़ का निर्माण फिर' नाम से प्रकाशित। प्रथम खण्ड में जहाँ बच्चन ने अपने भाव-जगत् और यौवनारम्भ के प्रथम अभिसारों का चित्रण किया है, वहाँ अपने कुल, परिवेश तथा पूर्व पुरुषों का भी अत्यन्त रोचक तथा सरस शैली में वर्णन किया है। द्वितीय खण्ड अपेक्षाकृत अधिक अन्तर्मुखी और आत्म विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति से युक्त है। तृतीय खण्ड 'बसेरे से दूर' में प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेजी का अध्यापक बनने और सह अध्यापक लोगों से द्वेष का चित्रण है। कृति की दृष्टि से रामधारी सिंह 'दिनकर' ने इसे अनमोल एवं अत्यन्त महत्त्व की रचना' घोषित किया है। बच्चन जी की आत्म-कथा के अंतिम खण्ड का शीर्षक 'दशद्वार से सोपान तक' है।

1970 में प्रकाशित 'निराला की आत्मकथा' सूर्यप्रसाद दीक्षित द्वारा संकलित संयोजित एवं सम्पादित है। इस आत्मकथा में निराला के बाल्यकाल की स्मृतियाँ, विवाह, दाम्पत्यभाव, राजा की नौकरी, हिन्दी पढ़ना एवं वंश क्षति आदि

से सम्बन्धित घटनाओं के साथ रचना-प्रक्रिया तथा साहित्यिक जीवन का भी विस्तृत विवेचन है। कवि कथाकार रामदरश मिश्र की तीन भागों में प्रकाश्य आत्मकथा का केवल एक खण्ड 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' (1984) ही प्रकाशित हुआ। इस आत्मकथा की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें पूर्वी उत्तर प्रदेश के ऊबड़-खाबड़ गाँवों की जिंदगी ज्यों की त्यों साकार हो उठी है।

भवानी दयाल संन्यासी की 'प्रवासी की आत्मकथा' (1947), गणेशप्रसाद वर्णी की 'मेरी जीवनगाथा', अजितप्रसाद जैन की 'अज्ञात जीवन' (1951), अलगूराय शास्त्री कृत 'मेरा जीवन' (1951), नरदेव शास्त्री कृत 'आपबीत जगबीत' (1957), पृथ्वी सिंह आजाद कृत 'क्रांतिपथ का पथिक' (1964), आबिदअली द्वारा हिन्दुस्तानी में कृत 'मजदूर से मिनिस्टर' (1968), चतुभुर्ज शर्मा कृत 'विद्रोही की आत्मकथा' (1970), मूलचंद अग्रवाल कृत 'एक पत्रकार की आत्मकथा' (1944), गणेश वासुदेव मावलंकर कृत 'मेरा वकालती जीवन' (1964), विश्वनाथ लाहिरी द्वारा लिखित 'एक पुलिस अधिकारी की आत्मकथा' (1984) जैसी आत्मकथाएं प्रेरणा की अक्षय स्रोत हैं, जिनका आत्मकथा की विकास यात्र में महत्वपूर्ण योगदान है।

अस्मितावादी आत्मकथाएँ

सदियों से पुरुषवादी और सवर्ण-वर्चस्ववादी संस्कृति की सबसे ज्यादा प्रताड़ना स्त्रियाँ और दलित जन सहते आ रहे हैं। यही लोग आत्मकथा के जरिए अपने दारूण अनुभवों का मार्मिक संसार उद्घाटित करेंगे, तो हमारा भाव-लोक भी बदलेगा और वस्तु-जगत भी। मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै', तुलसीराम की 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका', 'यौराज सिंह 'बैचेन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथाएँ इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण पहल है, जो कहीं-न-कहीं इसके उज्ज्वल भविष्य की ओर इशारा करती है। दलित आत्मकथाओं के बारे में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं, "किसी भी दलित द्वारा लिखी आत्मकथा सिर्फ उसकी जीवनगाथा नहीं होती, बल्कि उसके समाज की जीवनगाथा भी होती है। लेखक की आत्म अभिव्यक्ति होती है। उसके जीवन के दु:ख, दर्द, अपमान, उपेक्षा, आत्मकथा उसकी जाति एवं समाज के दु:ख-दर्द और अपमान-उपेक्षा इत्यादि को भी स्वर देता है।"

हिन्दी की पहली दलित आत्मकथा 1995 में प्रकाशित मोहनदास नैमिशराय कृत 'अपने-अपने पिंजरे' को माना जाता है। भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था तले हजारों वर्षों से उपेक्षित जीवन जी रहे समाज का चित्रण इस आत्मकथा में मुख्य विषय के रूप में उभर कर आया है। मनुवादी व्यवस्था ने जिनके जीवन को अज्ञान, अंधकार, विषमता तथा गुलामी में ढकेल दिया था और उनका जीवन नरकमय बना दिया। ऐसे समाज में शिक्षा की रोशनी का आगमन हुआ और उस रोशनी को अपनाकर अपने दाहक अनुभवों की अभिव्यकित आत्मकथाओं में आने लगी। आत्मकथा का एक अंश, "... कुछ दूरी पर दो बैल-गाड़ियां और मिली। गाड़ीवान ने केवल दो सवाल तड़ में कर दिए थे। कहं से आरे हो? हममें से इतने उसका जवाब कोई देता, दूसरा सवाल साथ-साथ कर दिया थाकृ कौन जात हो?

आगे पूरन की गाड़ी खड़ी थी। वह कुछ देर चुप रहा। बा ने झटाक से उत्तर दे दिया था- चमार दरवज्जे से!

बा का जवाब सुनते ही गाड़ीवान ने तिक-तिक-तिक करते हुए गाड़ी आगे बढ़ा ली थी। जैसे उससे हमारी गाड़ी छू न जाए।"

1997 में प्रकाशित हुई ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' सामाजिक सड़ाँध को उजागर करने वाली महत्त्वपूर्ण आत्मकथा है। बकौल लेखक "दलित जीवन की पीड़ाएँ असहनीय अनुभव है। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज व्यवस्था में हमने साँसें ली हैं, जो बेहद क्रूर और असमानवीय है।" 'जूठन' के माध्यम से लेखक ने भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म और इतिहास में पवित्र तथा उत्कृष्ट समझे जाने वाले तीन प्रतीकों क्रमशः शिक्षक संस्थान, गुरु यानि शिक्षक एवं प्रेम पर कड़ा प्रहार किया है तथा यह दिखाने की कोशिश की है कि दलित समाज को अपने व्यक्तित्त्व निर्माण और सामाजिक विकास की प्रक्रिया में इन तीनों प्रतीकों की नकारात्मक भूमिकाओं का सामना करना पड़ता है। आत्मकथा में उल्लेखित एक अंश, "अध्यापकों का आदर्श रूप जो मैंने देखा, वह अभी तक मेरी स्मृति से मिटा नहीं है। जब भी कोई आदर्श गुरु की बात करता है, तो मुझे वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं, जो माँ-बहन की गालियाँ देते थे।" इस तरह यह आत्मकथा पददलित, हाशिए पर बैठे लोगों के लिए मुख्यधारा में आने का मार्गदर्शन करती है।

'दोहरा अभिशाप' (1999) कौशल्या वैसन्त्री की यह आत्मकथा हिन्दी दलित साहित्य की पहली आत्मकथा है। एक दलित स्त्री को दोहरे अभिशाप से गुजरना पड़ता है- एक उसका स्त्री होना और दूसरा दलित होना। कौशल्या वैसन्त्री इन दोनों अभिशापों को एक साथ जीती हैं, जो उनके अनुभव जगत् को एक गहनता प्रदान करते हैं। इस आत्मकथा में तीन पीढ़ी की कथा है, जिसमें लेखिका की माँ भागिरथी, नानी, आजी और स्वयं लेखिका के जीवन का मार्मिक एवं विशद चित्रण हुआ है। लेखिका पुस्तक की भूमिका में घोषणा करती है, "पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं, परन्तु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं के सामने आए होंगे परन्तु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती और जीवन भर घुटन में जीती है। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की जरूरत है।" लेखिका ने दलित समाज की अच्छाई-बुराई सभी का विवरण अपनी आत्मकथा में दिया है। जहाँ सवर्णों में विधवा-विवाह को मान्यता नहीं दी जाती है, वहीं दलित समाज में कोई रोक-टोक नहीं है अगर विधवा दुबारा शादी (पाट) करना चाहे।

'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा के माध्यम से 20वीं सदी के आरम्भिक दशक से लेकर अब तक के दलित समाज की यथार्थवादी व बदलती हुई तस्वीर देखी जा सकती है। लेखिका ने आत्मकथा में गरीबी, अभाव, अशिक्षा, अज्ञान, अंधविश्वास, सामाजिक असमानता और जातिगत नफरत के कारण दलित बच्चों, स्त्रियों व पूरे दलित समाज की दुर्दशा का हृदय विदारक चित्रण किया है।

'शिकंजे का दर्द' सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा नारी के शोषण के विरुद्ध संघर्ष की गाथा है। लेखिका ने इस आत्मकथा के माध्यम से यह महत्त्वपूर्ण संदेश दिया है कि समाज के शोषित शिकंजे से मुक्ति पानी है तो सबसे पहले शिक्षित होना ही पड़ेगा। लेखिका के शब्दों में "सच यह था- कब आया यौवन, जान न पाया मन! शिकंजे में जकड़ा जीवन कभी मुक्त भाव का अनुभव ही नहीं कर पाया। जिंदगी एक निश्चित की गई लकीर पर चलती रही वह उमंग कभी मिली ही नहीं जो यौवन का अहसास कराती। उम्र के साथ कटु अनुभूतियों के दंश महसूस होते रहे। पीड़ा से छटपटाता मन मुक्ति का ध्येय लेकर आगे बढ़ता रहा। तब मुक्ति का मार्ग मैंने शिक्षा प्राप्ति को ही माना था।"

हिन्दी में देर से ही सही पर सार्थक और आत्मपरीक्षण के साथ दलितों के संघर्ष का चित्रण होना एक तरह से क्रान्ति की तरह है। तुलसीराम की

आत्मकथा 'मुर्दहिया' पूरे दलित समाज के अदम्य जीवन संदर्भ के साथ आगे बढ़ने का संदेश देती है तथा यह भी बताती है कि जो नारकीय या दासतापूर्ण जीवन दलितों को मिला है उसमें व्यक्ति विशेष का नहीं बल्कि व्यवस्था का अपराध है।

डॉ. तुलसीराम द्वारा लिखित 'मुर्दहिया' आत्मकथा अपशकुन से शुभशकुन तक के सफर को वर्णित करती है। शिक्षा से कौन-सा परिवर्तन हो सकता है, इसका आदर्श उदाहरण मुर्दहिया प्रस्तुत करता है। दलित होने के नाते सामाजिक बहिष्कार और एक आँख से अंधा होने के कारण पारिवारिक बहिष्कार-उपेक्षा के शिकार तुलसीराम दोहरी मार झेलते हैं। ज्ञान और शिक्षा की आँख पाकर वे जिस मुकाम पर पहुँच चुके हैं उससे उनकी एक आँख अलंकार बनकर आती है, जो उनके लिए बहुमूल्य है। हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था निजीकरण के दौर से गुजर रही है और सरकारी नीतियाँ प्राथमिक शिक्षा से उच्च शिक्षा तक नकारात्मक बनती जा रही है। 'मुर्दहिया' को पढ़ते हुए इसका एहसास हो जाता है कि हमारे देश में प्रतिभा की कमी नहीं है परंतु उस प्रतिभा को निखारने के लिए उचित शिक्षा तंत्र की आवश्यकता है।

डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा का दूसरा भाग 'मणिकर्णिका' 2014 में प्रकाशित हुआ। मणिकर्णिका यद्यपि तुलसीराम की आत्मकथा है, परन्तु इसमें उनके द्वारा प्रयुक्त 'मैं' एक व्यक्ति नहीं बल्कि हर पल बुद्ध के दर्शन से पूर्णतः प्रभावित एक अम्बेडकरवादी है, जिसके हर निर्णय और कार्य की पृष्ठभूमि इसी दर्शन से प्रभावित है, यह पुस्तक अन्य आत्मकथाओं की भाँति व्यक्तिगत पीड़ा नहीं बल्कि तत्कालीन समाज का सम्पूर्ण विवरण है। इस पुस्तक में तुलसीराम के मुर्दहिया के आगे का जीवन यानी अपने बचपन के 'मुर्दहिया' का साथ छोड़ 'बनारस' का हाथ पकड़ने ओर उनके बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में 10 साल का जीवन संघर्ष है। आत्मकथा में तुलसीराम ने बनारस के प्रसिद्ध घाटों और मंदिरों का चित्रण करते हुए यहाँ के 'पंडों' के पाखंड और कारोबार का वर्णन करते हुए बताया कि वे कैसे कृष्ण भक्ति का बखान करते हुए तथा भूत उतारने के बहाने महिलाओं को शोषण का शिकार बनाया करते हैं।

इसमें 70 के दशक की विभिन्न राजनीतिक धाराओं यथा मार्क्सवाद, समाजवाद, नक्सलवाद का दर्शन और खासकर उनके समकालीन इतिहास का ऐसा रोचक और सजीव चित्रण है, जो वर्तमान पीढ़ी के लिए और महत्वपूर्ण हो जाता है। आत्मकथा में राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, राज नारायण और

इंदिरा गाँधी जैसे राष्ट्रीय नेताओं का छात्र राजनीति पर असर का भी विवरण है। पुस्तक के अंत में आत्मकथाकार ने 'प्रीति करे ना कोई' नामक शीर्षक में अपने जीवन के प्रेम-प्रसंगों का सहज वर्णन किया है।

'यौराज सिंह 'बेचैन' की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' 2009 में प्रकाशित हुई। लेखक ने दलित जीवन की वास्तविकता को इसमें निष्पक्ष भाव से तो व्यक्त किया ही है, साथ ही दलितों में व्याप्त जातिवाद, दलित पुरुषों द्वारा दलित स्त्रियों के उत्पीड़न के हृदयविदारक दृश्य भी हमें इस आत्मकथा में दिखाई पड़ते हैं। पिता की मौत की त्रासदी से लेकर हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण होने तक की बाल व युवा जिंदगी की जद्दोजहद उनसे अधिक कौन जान सकता है। कमोबेश लेखक ने अपने जीवन के हर पहलू की चर्चा इस पुस्तक में की है, जो अक्सर उन्हें अपने अतीत के सामने खड़ा करता है, चाहे भूख में मरे हुए जानवरों का माँस खाना हो, पढ़ाई के लिए मास्टर की मधुर वाणी में फंस कर बेगारी करना, यहाँ तक कि सुंदरियों का प्रसंग।

हिन्दी आत्मकथा का इतिहास

आत्मकथा स्वानुभूति का सबसे सरल माध्यम है। आत्मकथा के द्वारा लेखक अपने जीवन, परिवेश, महत्त्वपूर्ण घटनाओं, विचारधारा, निजी अनुभव, अपनी क्षमताओं और दुर्बलताओं तथा अपने समय की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

आरंभिक-युग

हिन्दी में आत्मकथाओं की एक लंबी परंपरा रही है। हिंदी की प्रथम आत्मकथा बनारसीदास जैन कृत 'अद्धकथा' (1641 ई.) है। आत्मकथा की मूलभूत विशेषताओं–निरपेक्षता और तटस्थता को इसमें सहज ही देखा जा सकता है। इसमें लेखक ने अपने गुणों और अवगुणों का यथार्थ चित्रण किया है। पद्य में लिखी इस आत्मकथा के अतिरिक्त पूरे मध्यकाल में हिंदी में कोई दूसरी आत्मकथा नहीं मिलती।

अन्य कई गद्य विधाओं के साथ आत्मकथा भी भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में विकसित हुई। भारतेंदु ने अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से इस विधा का पल्लवन किया। उनकी स्वयं की आत्मकथा 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' का आरंभिक अंश 'प्रथम खेल' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। उनकी

संक्षिप्त-सी आत्मकथा की भाषा आम-बोलचाल के शब्दों से निर्मित हुई है, जो एक तरह से बाद की आत्मकथाओं के लिए आधार दृष्टि का काम करती है। भारतेंदु के अतिरिक्त इस काल के आत्मकथाकारों में सुधाकर द्विवेदीकृत 'रामकहानी' और अंबिकादत्त व्यासकृत 'निजवृतांत' को महत्वपूर्ण माना जा सकता है। कलेवर की दृष्टि से इन आत्मकथाओं को भी संक्षिप्त कहा जा सकता है। व्यास जी की आत्मकथा मात्रा 56 पृष्ठों की है। इसमें उन्होंने सरल भाषा का प्रयोग करते हुए अपने जीवन संघर्षों को स्वर दिया है।

स्वामी दयानंद सरस्वती की आत्मकथा सन् 1875 में प्रकाश में आई। इस आत्मकथा में दयानंद सरस्वती के जीवन के विविध पक्षों यथा-ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, विद्वत्ता, सत्यनिष्ठा और निर्भीकता आदि का सजीव चित्रण हुआ है। सत्यानंद अग्निहोत्रीकृत 'मुझ में देव जीवन का विकास' का पहला खण्ड सन् 1909 में और दूसरा खण्ड सन् 1918 में प्रकाशित हुआ। इस आत्मकथा में आत्मश्लाघा की प्रधानता है। सन् 1921 में भाई परमानंदकी आत्मकथा 'आपबीती' प्रकाशित हुई। इसे किसी क्रांतिकारी की प्रथम आत्मकथा माना जा सकता है। इसमें लेखक ने स्वतंत्रता आंदोलन में अपने योगदान, अपनी जेल यात्रा और अपने ऊपर पड़े आर्य समाज के प्रभाव को रेखांकित किया है। सन् 1924 में स्वामी श्रद्धानंद की आत्मकथा 'कल्याणमार्ग का पथिक' प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने अपने जीवन संघर्षों और आत्मोत्थान का वर्णन किया है।

स्वतंत्रता-पूर्व युग

हिंदी के आत्मकथात्मक साहित्य के विकास में 'हंस' के आत्मकथांक का विशिष्ट योगदान है। सन् 1932 में प्रकाशित इस अंक में जयशंकर प्रसाद, वैद्य हरिदास, विनोदशंकर व्यास, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, दयाराम निगम, मौलवी महेशप्रसाद, गोपालराम गहमरी, सुदर्शन, शिवपूजन सहाय, रायकृष्णदास, श्रीराम शर्मा आदि साहित्यकारों और गैर-साहित्यकारों के जीवन के कुछ अंशों को प्रेमचंद ने स्थान दिया है।

इस काल की सबसे महत्वपूर्ण आत्मकथा श्यामसुंदर दास कृत 'मेरी आत्मकहानी' (सन् 1941) है। इसमें लेखक ने अपने जीवन की निजी घटनाओं को कम स्थान दिया है। इसकी बजाय काशी के इतिहास और समकालीन साहित्यिक गतिविधियों को भरपूर स्थान मिला है। लगभग इसी समय बाबू गुलाबराय की आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ' प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा में

लेखक ने व्यंग्यपूर्ण रोचक शैली में अपने जीवन की असफलताओं का सजीव चित्रण किया है।

सन् 1946 में राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। सन् 1949 में दूसरा तथा सन् 1967 में उनकी मृत्यु के उपरांत इसके तीन भाग और प्रकाशित हुए। इस बृहत् आकार की आत्मकथा की विशेषता इसकी वर्णनात्मक शैली है।

सन् 1947 के आरंभ में देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा इसी शीर्षक से प्रकाशित हुई। इस बृहदकाय आत्मकथा में राजेंद्र बाबू ने बड़ी सादगी और निश्छलता से स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान देश की दशा का वर्णन किया है।

स्वातंत्र्योत्तर युग

सन् 1948 में वियोगी हरि की आत्मकथा 'मेरा जीवन प्रवाह' प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा के समाज सेवा से संबंधित अंश में समाज के निम्न वर्ग का लेखक ने बहुत मार्मिक वर्णन किया है। यशपाल कृत 'सिंहावलोकन' का प्रथम भाग सन् 1951 में प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा भाग सन् 1952 और तीसरा सन् 1955 में आया। यशपाल की आत्मकथा की विशेषता उसकी रोचक और मर्मस्पर्शी शैली है। सन् 1952 में शांतिप्रिय द्विवेदी की आत्मकथा 'परिव्राजक की प्रजा' प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने अपने जीवन के प्रारंभिक इकतालीस वर्षों की करुण कथा का वर्णन किया है। सन् 1953 में यायावर प्रवृत्ति के लेखक देवेंद्र सत्यार्थी की आत्मकथा 'चाँद-सूरज के बीरन' प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने अपने जीवन की आरंभिक घटनाओं का चित्रण किया है।

सन् 1960 में प्रकाशित पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की आत्मकथा 'अपनी खबर' बहुत चर्चित हुई। इसमें उनके जीवन की विप्रुताओं के बीच युगीन परिवेश की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है।

हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा हिंदी की सर्वाधिक सफल और महत्वपूर्ण आत्मकथा मानी जाती है। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (सन् 1969), 'नीड़ का निर्माण फिर' (सन् 1970), 'बसेरे से दूर' (सन् 1977) और 'दशद्वार से सोपान तक' (सन् 1985) चार भागों में विभाजित उनकी आत्मकथा इस विधा को नए शिखर पर ले गई। प्रथम खंड में बच्चन जी ने अपने बचपन से यौवन तक के चित्र खींचे हैं। द्वितीय भाग में आत्मविश्लेषणात्मक पद्धति को

अधिक स्थान मिला है। तीसरे भाग में लेखक ने अपने विदेश प्रवास का वर्णन किया है तथा चौथे और अंतिम भाग में बच्चन ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों के अनुभवों को संचित किया है। अत्यंत विस्तृत होने के बावजूद बच्चन जी की आत्मकथा की विशेषता उसका सुव्यवस्थित होना है। उनके गद्य की भाषा सहज-सरल है। बच्चन की आत्मकथा ने अनेक साहित्यकारों को अपने जीवन को लिपिबद्ध करने के लिए प्रेरित किया। उनके बाद प्रकाशित आत्मकथाओं में वृन्दावनलाल वर्मा की 'अपनी कहानी' ((सन् 1970), देवराज उपाध्याय की 'यौवन के द्वार पर' (सन् 1970), शिवपूजन सहाय की 'मेरा जीवन' (सन् 1985), प्रतिभा अग्रवाल की 'दस्तक जिंदगी की' (सन् 1990) और भीष्म साहनी की 'आज के अतीत' (सन् 2003) प्रकाशित हुई। देश विभाजन की त्रासदी को भीष्म साहनी ने जीवंत भाषा में चित्रित किया है। उनकी शैली मर्मस्पर्शी है।

समकालीन आत्मकथा साहित्य में दलित आत्मकथाओं का उल्लेखनीय योगदान है। ओमप्रकाश बाल्मीकि कृत 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय कृत 'अपने-अपने पिंजरे' और कौशल्या बैसंत्री कृत 'दोहरा अभिशाप' आदि आत्मकथाओं ने इस विधा को यथार्थ अभिव्यक्ति की नई ऊँचाई पर पहुँचाया है। वर्तमान समय में महिला और दलित रचनाकारों ने इस विधा को गहरे सामाजिक सरोकारों से जोड़ा है। इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिंदी आत्मकथा साहित्य एक लंबी यात्रा के बाद आज उस मुकाम पर पहुँचा है जहाँ वह आत्मश्लाघा के दुर्गुण से मुक्त होकर व्यक्तिगत गुण-दोषों की सच्चाई को बयान करने में सक्षम है।

हिंदी साहित्य में आत्मकथाओं का विकास एवं उनकी विशेषताएं

साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति आत्मकथा एक महत्त्वपूर्ण विधा है, जिसमें रचनाकार आत्मावलोकन करते हुए स्वयं अपने जीवन का मूल्यांकन करता है। अत: सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि आत्मकथा लेखक के भोगे हुए जीवन का स्वयं किया गया विवेचन एवं विश्लेषण है। इसमें उपन्यास जैसी रोचकता एवं इतिहास जैसी प्रमाणिकता होती है। इसमें लेखक अपने जीवन की सभी सच्चाइयों को नि:संकोच व्यक्त करता है। हिन्दी साहित्य में लिखी गई सर्वप्रथम आत्मकथा ' अर्द्धकथानक ' है, जिसे जैन कवि श्री बनारसीदास ने सन्

1641 में लिखा था। इसके पश्चात् भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी की अधूरी आत्मकथा ' कुछ आपबीती – कुछ जगबीती ' का उल्लेख आता है। इस शोध में हम हिंदी साहित्य में उनकी आत्मकथाओं के विकास एवं उनकी विशेषताओं के बारे में विश्लेषात्मक अध्ययन करेंगे।

प्रस्तावना

साहित्य समाज का दर्पण है। आधुनिक काल का हिन्दी गद्य साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। गद्य साहित्य अनेक विधाओं से विकसित हो रहा है। इन विधाओं में जीवनीपरख विधाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इनमें जीवनी, संस्मरण, डायरी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रा – वृत्तान्त तथा आत्मकथा है। आत्मकथा एक कलात्मक एवं मानवीय विधा है। आत्मकथा का स्वरूप व्यक्ति केन्द्रित होता है। आत्मकथा में लेखक स्वयं नायक होता है। सम्पूर्ण कथा उसके इर्द – गिर्द घुमती है। आत्मकथा गद्य का वह रूप है जिसमें लेखक अपने जीवन – संघर्ष, उतार – चढ़ाव, गुणों – अवगुणों, सफलता – असफलताओं, पारिवारिक परिस्थितियों, परिवेश, वंश, योग्यता, कठिनाइयों, उपलब्धियों एवं अपने प्रेरणा स्त्रोतों आदि का स्वयं नि:संकोच भाव से यथार्थ रूप में कलात्मक लेखन करता है।

आज हिन्दी साहित्य में आत्मकथा हिन्दी की सभी विधाओं से रोचक एवं सजीव विधा है, क्योंकि अन्य सभी विधाओं में साहित्यकार व्यक्तिगत नीतियों अथवा सामाजिक समस्याओं का ही वर्णन करता है, जबकि आत्मकथा में वह स्वयं के नितान्त निजी व आत्मिक तथ्यों का ही उद्घाटन करता है। आत्मकथा व्यक्ति का वह अन्त: साक्ष्य है, जो उसकी सम्पूर्ण जीवन – यात्रा का प्रमाणिक, यथार्थपूर्ण एवं आत्मिक दस्तावेज प्रस्तुत करती है।

आत्मकथा विधा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न पाश्चात्य एवं भारतीय कोषों तथा विद्वानों ने अपनी – अपनी परिभाषा प्रस्तुत की है।

"आत्मकथा अंग्रेजी के 'Auto&Biography ' (ऑटोबायोग्राफी) का हिन्दी रूपान्तरण है। यहाँ Auto का अर्थ ' आत्मा ' और 'Biography' का अर्थ ' जीवनी ' है। इस प्रकार से आत्मकथा का अर्थ हुआ ' सम्बद्ध व्यक्ति द्वारा अपने जीवन की कहानी स्वयं लिख जानी। ' अथवा यह भी कह सकते है कि ' स्व ' के जीवन पर स्वरचित कथा ही आत्मकथा होती है।"

1. आधुनिक हिन्दी शब्दकोश में " आत्मकथा शब्द ' स्त्री लिंगी ' संज्ञा में दिया गया है, तथा उसका अर्थ ' स्वयं ' द्वारा लिया गया जीवन-चरित्र, जीवनी, आपबीती, आत्मकहानी "
2. आदि विकल्प स्वरूप लिया गया है। नूतन पर्यायवाची एवं विपर्याय कोश में आत्मकथा का अर्थ " आत्मचरित्र, आत्मवृत्त, आत्मवृत्तांत, आप - बीती, जीवनी, स्वकथा " आदि के रूप में लिया गया है।

' आत्मकथा ' शब्द मूलत: अंग्रेजी शब्द ' ऑटोबायोग्राफी ' के हिन्दी अनुवाद के तौर पर स्वीकृत किया गया है। भारतीय संस्कृत साहित्य में ' आत्मवृत्तकथनम ' और ' आत्मचरितम् ' शब्द अवश्य मिलते है। जो आत्मकथा के अर्थ में स्वीकृत शब्द हैं। ऑटोबायोग्राफी के लिए हिन्दी में अनेक शब्द प्रचलित हैं–आत्मकथा, आत्मवृत्त, आत्मगाथा, आत्मचरित, आत्मचरित्र, आत्मचरित्र - चित्रण, स्व - कथा, आत्म - जीवनी, आत्मवृत्तांत, आत्मचरित रचना, आत्मचरित जीवन, आत्मनेपद, आत्मकहानी, आपबीती, मेरी कहानी, राम कहानी, अपनी कहानी, जीवनयात्रा, अपनी खबर, जीवन कहानी आदि। लेकिन इन सभी शब्दों के मध्य ' आत्मकथा ' समस्त पद ने अपना विशिष्ट स्थान बनाया है और ऑटोबायोग्राफी के अनुवाद रूप में ' आत्मकथा ' शब्द को व्यापक स्वीकृति मिली है।

राजनैतिक आत्मकथाएँ

हिन्दी साहित्य में कुछ ऐसी आत्मकथाएँ आती हैं, जो राजनैतिक पुरुषों द्वारा लिखी गयी हैं। राजनैतिक पुरुषों में महात्मा गाँधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू एवं डॉ . राजेन्द्र प्रसाद प्रमुख हैं। राजनैतिक नेताओं का जीवन भी संघर्ष का जीवन रहा है। उत्थान और पतन उनके जीवन के दो समान महत्त्वपूर्ण पक्ष होते हैं। भाग्य का झकोरा उन्हें किस समय किस पक्ष की ओर ले जाकर पटकता है, यह कुछ नहीं कहा जा सकता। इन लोगों की आत्मकथाओं का सौन्दर्य भाग्य के उसी उत्थान और पतन की कहानी को सच्चाई से व्यक्त करने में निहित करता है। इन महापुरुषों द्वारा लिखी हुई सभी आत्मकथाएँ इसी श्रेणी में आती हैं।

धार्मिक आत्मकथाएँ

कुछ धार्मिक पुरुषों द्वारा लिखी हुई आत्मकथाएँ भी प्राप्त होती हैं। हरिभाऊ उपाध्याय की ' साधना के पथ पर ' एवं भवानीदयाल संन्यासी की

' प्रवासी की आत्मकथा ' इसी श्रेणी में आती है। संसार में बहुत से महान व्यक्ति हुए हैं, जो अपने जीवन के आरम्भिक काल में कुछ अधिक उच्छृंखल रहे, किन्तु किन्ही विशेष प्रेरणा और परिस्थितियों के फलस्वरूप उनके जीवन की गतिविधि सहसा बदल गई–आत्मकथाओं में हमें आत्मनिवेदन और आत्मविवेचना के साथ – साथ उन परिस्थितियों और घटनाओं का मार्मिक चित्रण भी मिलता है, जिन्होंने उनके जीवन की गतिविधि बदलने में योग दिया और उनके जीवन को सफल बना दिया। ये सभी आत्मकथाएँ इसी कोटि की हैं।

साहित्यिक आत्मकथाएँ

साहित्यिक व्यक्तियों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएँ साहित्यिक आत्मकथा की कोटि के अन्तर्गत आती हैं। यहाँ साहित्यिक व्यक्ति से अभिप्राय उन व्यक्तियों से है जिन्होंने हिन्दी के विकास में अपनी कृतियों द्वारा योगदान दिया है। ऐसी श्रेणी में कवि, कथालेखक एवं आलोचकगण आते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर आत्मकथा की स्वरूपगत विशेषताएँ एवं तथ्य हमारे सामने उभरकर आये हैं, ये निम्नलिखित हैं –

1. आत्मकथा स्वयं के द्वारा लिखा गया स्वयं के जीवन का इतिहास है।
2. लेखक के आत्मानुभवों की प्रस्तुति होने व अन्तर्जगत् से सम्बन्धित होने के कारण यह एक आत्मपरक विधा है।
3. स्व के जीवन का इतिहास लिखते समय लेखक (सामाजिक प्राणी होने के कारण) यथासम्भव बाह्य परिवेश तथा स्वयं से सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों का भी चित्रण आत्मकथा में करता है। इस प्रकार वह अन्तर्जगत् तथा बाह्य जगत् में सन्तुलन बनाये रखता है।
4. आत्मकथा में लेखक अपने सम्पूर्ण जीवन का विवरण ने देकर कुछ विशेष अथवा चुनिन्दा घटनाओं को, जो उसके व्यक्तित्त्व के विकास में सहायक हुआ करती है, क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करता है।
5. आत्म – चरित लेखक अपनी आयु की अन्तिमावस्था में मानसिकता के परिपक्व होने पर लिखता है।
6. आत्मकथा लिखने में लेखक के विगत जीवन की स्मृतियां मुख्य रूप से सहायक हुआ करती है।
7. स्वयं भोक्ता होने के कारण आत्मकथाकार अपने जीवन की घटनाओं को सत्य एवं ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करता है।

8. यह सत्य ऐतिहासिक सत्य ने होकर लेखक का अनुभवगत सत्य हुआ करता है।
9. अपने जीवन के रहस्यों को ईमानदारी से पाठकों के समक्ष रखने के लिये तटस्थ दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है।
10. यह नायक के सम्पूर्ण विवेचन का सुदृढ़ आधार है।
11. अपने मनोभावों को परखकर प्रकाशित करने का उपक्रम है।
12. प्रौढ़ता की प्राप्ति के बाद अतीत की पुनरावृत्ति है।
13. आत्मेतर पात्रों का प्रायः " आत्म " में अन्तर्भाव हो जाता है।
14. आत्मकथा दर्पण के समान स्पष्ट, सत्य, निश्छल, सहज, सरल, निर्भीक अभिव्यक्ति है।
15. यह विधा व्यक्तिगत अनुभवों, अनुभूतियों व संवेदनाओं की त्रिवेणी है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आत्मकथा में व्यक्ति के जीवन - संघर्ष, वैयक्तिकता, आत्मोद्घाटन, आत्मविश्लेषण आदि का यथार्थ एवं प्रमाणिक वर्णन होता है।

आत्मकथा गद्य साहित्य की अत्यन्त नवीन विधा है। इतिहास गवाह है कि भारतीय परम्परा आत्म-प्रचार की अपेक्षा आत्मगोपन की ओर अधिक उन्मुख रही है। आत्मकथा साहित्य के संकेत हमें प्राचीन काल में संस्कृत के साहित्य से मिलने आरम्भ हो गए थे, परन्तु आत्मकथा साहित्य का जन्म आधुनिक काल में ही हुआ है। संस्कृत के प्राचीन साहित्यकारों की आध्यात्म के प्रति रुचि होने के कारण उस काल में इस विधा के उदाहरण अत्यल्प है, फिर भी इस प्रकार की रचनाओं का सर्वथा अभाव नहीं रहा। इसके बीज हिन्दी से पूर्व संस्कृत, पाली तथा अपभ्रंश भाषा साहित्य में भी विद्यमान है, जिन पर पृथक - पृथक विचार करना असंगत ने होगा।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में आत्मकथात्मक संकेत

संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम कवि माघ ने ' शिशुपाल वध ' की रचना की थी। इसमें उन्होंने अपना तथा पितामाह का परिचय दिया है। इसमें कवि ने अपने वंश का गौरव - गान भी किया है। इसी प्रकार कवि भट्टि ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैने श्रीधर के द्वारा शासित वल्लभी में भट्टि काव्य की रचना की है। श्रीधर सेन ने इन्हें कुछ भूमि दान में दी थी। इस बात का उल्लेख एक शिलालेख में मिलता है। कवि भट्टि वल्लभी के शासक द्वारा प्रशंसित थे। इसके

पश्चात् महाकवि बाण में आत्मकथा की प्रवृति मिलती है। बाणभट्ट द्वारा रचित ' हर्षचरित ' और ' कादम्बरी ' दोना में ही उन्होंने अपने जीवन की कुछ घटनाओं का उल्लेख किया है। इसमें इनके बचपन, देशाटन, परिवार एवम् इनकी ज्ञान - पिपासा का वर्णन है। ' हर्षचरित ' को गद्यमय चरित प्रधान ग्रन्थ कहा गया है। इसमें सुप्रसिद्ध साहित्य मनीषी की बहुमुखी प्रतिभा की झलक दिखाई देती है। महाकवि बाण के पश्चात् कवि हर्ष ने ' नैषध - चरित ' में अपने विषय में बहुत कुछ लिखा है। प्रत्येक सर्ग की समाप्ति के श्लोक में इन्होंने अपना नाम ' श्री हर्ष ' पिता का नाम ' श्री हरि ' तथा माता का नाम ' भामल्ल देवी ' बताया है। इनकी जन्मभूमि कश्मीर थी। महाकवि श्री भवभूति ने ' महावीरचरित ' की रचना की। इन्होंने अपना पर्याप्त परिचय अपनी कृतियों के प्रारम्भ में दिया है। कवि का पहला नाम श्री ' नीलकंठ ' है। इनके कंठ में देवी सरस्वती का विलास था। इनके जन्म के प्रथम दिन से ही इनके चारों ओर सरस्वती की उपासना का वातावरण रहता था। इनका जन्म आठवीं शती के प्रथम पाद में हुआ था। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में आत्मकथा के जो छुटपुट विवरण मिलते है, वे आत्मकथा विधा की पूर्ति नहीं करते, फिर भी इन विवरणों से इतना तो स्पष्ट हैं कि उस काल में भी स्वयं को व्यक्त करने की इच्छा विद्यमान थी।

आधुनिक काल में आत्मकथा

आधुनिक युग में भारत में अंग्रेजी का शासन होने के कारण भारतीय जनता पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने लगा। इस युग में राष्ट्रीयता की भावना का विकास होने लगा। इसी कारण हिन्दी साहित्य में भी राष्ट्रीयता की भावना की अभिव्यक्ति होने लगी। हिन्दी साहित्य में भी पद्य के साथ - साथ गद्य का भी विकास हुआ। इसी समय साहित्य में नई विधाओं आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, डायरी, यात्र वृत्तान्त, पत्र आदि का आगमन हुआ। यह काल आत्मकथा लेखन के लिए काफी समृद्ध रहा है। इस काल की आत्मकथाओं को चार भागों में बाँटा जा सकता है।

पूर्व भारतेन्दु एवम् भारतेन्दु युग में आत्मकथा

यह काल हिन्दी आत्मकथा साहित्य के उद्‌भव और विकास का काल है। अध्ययन की दृष्टि से इस काल की आत्मकथाओं को दो भागा में बाँटा जा सकता है।

द्विवेदी युग में आत्मकथा

द्विवेदी युग हिन्दी आत्मकथा साहित्य का उन्नयन काल है। इस युग का नामकरण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम के आधार पर किया गया है। द्विवेदी जी आत्मकथा के महत्त्व को भली-भाँति समझते थे। इन्होंने साहित्यकारों को आत्मकथा लिखने के लिए प्रेरित किया। इस युग में मानवतावादी विचारधारा स्थापित हुई। इसी भावना से प्रेरित होकर इस युग के साहित्यकारों ने स्वयं के व्यक्तित्त्व को जन - जन तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया। इस काल के लेखकों ने समष्टि के लिए व्यष्टि के उत्सर्ग की भावना पर बल दिया।

छायावादी युग में आत्मकथा

छायावादी युग में साहित्य की सभी विधाओं का विकास हुआ। हिन्दी गद्य साहित्य में अन्य विधाओं के साथ आत्मकथा साहित्य ने भी बहुत उन्नति की। इस समय के आत्मकथाकारों ने सामाजिकता के स्थान पर वैयक्तिक अनुभूतियों को स्थान दिया। छायावादी युग के आत्मकथाकारों ने सामाजिक बन्धनों को तोड़कर पश्चिम के स्वच्छन्दतावादी विचारों को ग्रहण किया।

छायावादोत्तर युग में आत्मकथा

छायावादोत्तर युग में आत्मकथा साहित्य ने बहुत प्रगति की है। इस युग में साहित्यकारों के साथ - साथ अनेक विशिष्ट व्यक्तियों ने भी अपनी आत्मकथाएँ लिखी है। आज के युग में बहुत से व्यक्ति स्वयं को समाज के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते हैं। इस प्रस्तुति का एकमात्रा साधन आत्मकथा है। इस युग में आत्मकथा साहित्य ने परिणाम और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों में खुब उन्नति की है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि साहित्य और व्यक्ति का सम्बन्ध आदिकाल से चला आ रहा है और व्यक्ति सदैव ही अपनी भावनाओं और विभिन्न जीवनानुभवों की शाब्दिक अभिव्यक्ति के लिए आकुल रहा है। जब व्यक्ति प्रौढ़ावस्था में अपने विगत जीवन की स्मृतियों से व्यथित हो उन्हें शब्द-बद्ध करना चाहता है तो उसका प्रतिफलन आत्मकथा के रूप में होता है। आत्मकथा आज एक स्वतन्त्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है और यही कारण है कि आधुनिक युग में इस विधा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस अध्याय

में आत्मकथा का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसकी विभिन्न विद्वानों द्वारा वर्णित की गयी परिभाषाओं पर विचार-विमर्श करके उसकी विशेषताएँ, उपकरण व साधन, प्रकार, तत्त्व व उसकी गद्य की नवीन विधाओं से तुलना की गई है। अत: कहा जा सकता है कि आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी आत्मकथा परम्परा भले ही क्षीण हो किन्तु आधुनिक काल में हिन्दी आत्मकथा की परम्परा सुदृढ़ एवं विकसित हुई है। हिन्दी आत्मकथा परम्परा में आज मौलिक एवं अनूदित दोनों प्रकार की आत्मकथाएँ अभिव्यक्ति पा रही है। इस युग में धार्मिक, राजनैतिक, समाज सेवी तथा क्रान्तिकारियों ने आत्मकथा विधा को पल्लवित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। महिला लेखिकाएँ भी अपने दु:ख - दर्द के साथ इस परम्परा से बड़ी सक्रियता से जुड़ रही हैं।

आत्मकथा हिंदी साहित्य लेखन की गद्य विधाओं में से एक है। आत्मकथा यह व्यक्ति के द्वारा अनुभव किए गए जीवन के सत्य तथा यथार्थ का चित्रण है। आत्मकथा के केंद्र में आत्मकथाकार या किसी भी व्यक्ति विशेष के जीवन के विविध पहलुओं तथा क्रिया-कलापों का विवरण होता है। आत्मकथा का हर एक भाग मानव की जिजीविषा तथा हर एक शब्द मनुष्य के कर्म व क्रिया-कलापों से जुड़ा हुआ होता है। 'न मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्' अर्थात मनुष्य से बढ़कर कुछ भी नहीं है। आत्मकथा के अंतर्गत आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण, आत्मविश्लेषण, आत्माभिव्यक्ति यह आत्मकथा के द्वारा की जाती है। आत्मकथा के अंतर्गत सत्यता का विशेष महत्व होता है। यदि आत्मकथा में सत्यता नहीं होगी तो वह आत्मकथा उत्कृष्ट नहीं माना जाता है। आत्मकथा के अंतर्गत व्यक्तिगत जीवन के विविध पहलुओं, जो कि आत्मकथाकार ने स्वयं भोगा है तथा उसके अपने निजी जीवन व घटनाओं का सटीक व सही चित्र शब्दों के माध्यम से उकेरता है। आत्मकथाकार आत्मकथा लेखन में जिस शैली व भाषा का प्रयोग करता है वह उसकी अपनी स्वयं के जीवन अनुभव से जुड़ी होती है।

आत्मकथा यह गद्य साहित्य का रूप है। जिसके अंतर्गत किसी व्यक्ति विशेष का जीवन वृत्तांत स्वयं के द्वारा ही लिखा जाता है।

आज आत्मकथा लेखन विधा को अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व प्राप्त है तथा हिंदी गद्य साहित्य में अपना स्थान स्थापित कर चुकी है।

आत्मकथा 'आत्म' व 'कथा' के योग से बना है। जिसमें 'आत्म' का अर्थ है- अपना, स्वयं, निजी, स्वकीय आदि। इसी प्रकार 'कथा' का अर्थ है-

कहानी, किस्सा, वार्ता, चर्चा आदि। अत: उपर्युक्त अर्थ के आधार पर 'आत्मकथा' का अर्थ हुआ- अपनी निजी कहानी, स्वयं का किस्सा, स्वकीय कहानी आदि।

आत्मकथा के अंतर्गत आत्मकथाकार की मुख्य भूमिका यह होती है कि वह अपने जीवन का सही ढंग से चित्रण करे। इसमें आत्मकथाकार कथा का पात्र स्वयं होता है।

आत्मकथा को परिभाषित करते हुए डॉ. श्यामसुंदर घोष ने लिखा है कि -"जब लेखक अपनी जीवनी स्वयं लिखे तो वह आत्मकथा है। आत्मकथा के लिए हिंदी में आत्मचरित या आत्मचरित्र शब्द प्रयुक्त होते हैं।" हिंदी साहित्य कोश के अनुसार -"आत्मचरित और आत्मचरित्र हिंदी में आत्मकथा के अर्थ में प्रस्तुत शब्द हैं और तत्त्वत: आत्मकथा से भिन्न नहीं हैं।" इसी क्रम में डॉ. माजदा असद भी लिखते हैं कि ' स्वयं लिखी अपनी जीवनी आत्मकथा कहलाती है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है - जब कोई व्यक्ति कलात्मक, साहित्यिक ढंग से अपनी जीवनी स्वयं लिखता है तब उसे आत्मकथा कहते हैं।'

आत्मकथा लिखते समय आत्मकथाकार को यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि आत्मकथा में रोचकता हो अन्यथा वह आत्मकथा नीरस और उबाऊ हो जाएगी। आत्मकथा को रोचक बनाने हेतु कुछ मुद्दे मानविकी पारिभाषिक कोश में लिखे गए हैं। वे मुद्दे इस प्रकार से हैं–

1. किन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं या आन्दोलनों से यदि लेखक का संपर्क रहा हो तो उसका विवरण बाद की पीढ़ियों के लिए रोचक और उपयोगी होता है। क्योंकि उससे तत्कालीन मनोवृत्ति का कुछ सही अनुमान, सुलभ हो पाता है।
2. हो सकता है कि स्वयं लेखक का ही इतिहास निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा हो ? विख्यात विजेता, शासक, राजनीतिज्ञ अथवा चिंतक के विचारों का अपने तथा अन्य व्यक्तियों तथा घटनाओं के विषय में उसके मतामत का सदा महत्व रहता है।
3. लेखक की दृष्टिकोण या विचारों में कुछ विशेषता या अनूठापन हो अथवा वह अपने युग से आगे की बात सोचने वाला हो।
4. लेखक ऐसा व्यक्ति हो जिसके जीवन का मुख्य कार्य आत्ममंथन और चिंतन ही रहा हो।'

आत्मकथा को संस्मरण विधा भी माना जाता है। इस संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ. हरिचरण शर्मा ने लिखा है कि 'आत्मकथा एक संस्मरणात्मक विधा है जिसमें स्वयं लेखक अपने जीवन के विषय में निरपेक्ष होकर लिखता है। आत्मकथा वह साहित्यिक विधा है जिसमें लेखक अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं का संतुलित एवं व्यवस्थित चित्रण करता है। आत्मकथा व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्त्व के निष्पक्ष उद्‌घाटन में समर्थ होती है।' परंतु इस संदर्भ में प्रसिद्ध आलोचक शिप्ले आत्मकथा व संस्मरण को परस्पर भिन्न मानते हैं। इस संदर्भ में वे लिखते हैं कि "आत्मकथा और संस्मरण देखने में समान साहित्यिक स्वरूप मालूम पड़ते हैं, किंतु दोनों में अंतर है। यह अंतर बल संबंधी है। एक में चरित्र पर बल दिया जाता है और दूसरे में बाह्य घटनाओं और वस्तु आदि के वर्णनों पर ही लेखक की दृष्टि रहती है। संस्मरण में लेखक उन अपने से भिन्न व्यक्तियों, वस्तुओं, क्रियाकलापों आदि के विषय में संस्मरणात्मक चित्रण करता है जिनका उसे अपने जीवन में समय-समय पर साक्षात्कार हो चुका है।"

पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखित 'मेरी कहानी' को अनुवादित करके अब्राहम काउली आत्मकथा के संबंध में लिखते हैं कि "किसी आदमी को अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है और अगर हम अपनी तारीफ करें तो पाठकों को उसे सुनना नागवार मालूम होता है।"

इसी क्रम में आत्मकथा के संबंध में गुलाब राय अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि "साधारण जीवन चरित्र से आत्मकथा में कुछ विशेषता होती है। आत्मकथा लेखक जितनी अपने बारे में जान सकता है उतना लाख प्रयत्न करने पर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता किन्तु इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति बाधक होती है और किसी के साथ शील-संकोच आत्म-प्रकाश में रुकावट डालता है।"

आत्मकथा अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने का सबसे आसान व सहज माध्यम है। आत्मकथा के द्वारा आत्मकथाकार अपने जीवन, परिवेश, महत्त्वपूर्ण घटनाओं, विचारधाराओं, निजी अनुभवों, अपनी क्षमताओं, दुर्बलताओं तथा अपने समय की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों को शब्दों के माध्यम से लोगों के समक्ष प्रस्तुत करता है।

हिन्दी में आत्मकथा लेखन की एक लंबी परंपरा रही है। इस परम्परा को तीन कालखण्डों में विभाजित किया गया है, जो कि निम्नवत है –

1. आत्मकथा लेखन का आरंभिक काल

हिंदी की पहली आत्मकथा सन् 1641 में बनारसीदास जैन द्वारा लिखित 'अर्द्धकथा' को माना गया है। इस आत्मकथा में लेखक ने अपने गुणों और अवगुणों का यथार्थ चित्रण किया है। पद्यात्मक शैली में लिखी गई इस आत्मकथा के अलावा संपूर्ण मध्यकाल में हिंदी में कोई और दूसरी आत्मकथा नहीं मिलती है। हिंदी साहित्य लेखन के अंतर्गत गद्य लेखन की अन्य विधाओं के साथ आत्मकथा लेखन विधा भी भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में विकसित हुई। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने पत्रिकाओं में प्रकाशन के द्वारा इस विधा को न सिर्फ पल्लवित किया अपितु इसे आगे बढ़ाने में अहम् भूमिका भी निभायी। उन्होंने अपने स्वयं के जीवन पर आधारित आत्मकथा 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' का लेखन किया। जिसका आरंभिक अंश 'प्रथम खेल' नामक शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। यह आत्मकथा आम-बोलचाल की भाषा में लिखी गई जो कि रोजमर्रा के जीवन में प्रयोग किए जाने वाले शब्दों की बहुलता इस आत्मकथा में दिखाई देती है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के अलावा इस कालखण्ड के आत्मकथाकारों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं में से सुधाकर द्विवेदी की 'रामकहानी' तथा अंबिकादत्त व्यास की 'निजवृतांत' को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

इसी क्रम में सन् 1875 में स्वामी दयानंद सरस्वती की आत्मकथा सामने आई। इस आत्मकथा में दयानंद सरस्वती के जीवन के विविध पहलुओं को उजागर किया गया है। सत्यानंद अग्निहोत्री की आत्मकथा 'मुझ में देव जीवन का विकास' का पहला खण्ड सन् 1909 में और दूसरा खण्ड सन् 1918 में प्रकाशित हुई। सन् 1921 में परमानंद जी की आत्मकथा 'आपबीती' प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा में आत्मकथाकार ने स्वतंत्रता आंदोलन में अपने योगदान, अपनी जेल यात्रा तथा आर्य समाज के प्रभाव को उकेरा है। सन् 1924 में स्वामी श्रद्धानंद की आत्मकथा 'कल्याणमार्ग का पथिक' प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने अपने के जीवन संघर्षों का सही-सही चित्रण किया है।

2. स्वतंत्रता-पूर्व आत्मकथा लेखन

हिंदी आत्मकथा साहित्य के विकास में 'हंस' पत्रिका में प्रकाशित आत्मकथांकों का विशेष योगदान रहा है। सन् 1932 में प्रकाशित अंक में जयशंकर प्रसाद, वैद्य हरिदास, विनोदशंकर व्यास, विश्वंभरनाथ शर्मा, दयाराम निगम, मौलवी महेश प्रसाद, गोपालराम गहमरी, सुदर्शन, शिवपूजन सहाय, रायकृष्णदास, श्रीराम शर्मा आदि साहित्यकारों और गैर-साहित्यकारों के जीवन के कुछ अंशों को प्रेमचंद ने स्थान प्रदान किया।

सन् 1941 में प्रकाशित इस काल की सबसे महत्वपूर्ण आत्मकथा श्यामसुंदर दास की 'मेरी आत्मकहानी' है। इसमें लेखक ने अपने जीवन की निजी घटनाओं को कम स्थान देते हुए इतिहास और समकालीन साहित्यिक गतिविधियों को अधिक प्राधान्य दिया है। इसी कालखण्ड के आस-पास बाबू गुलाबराय की आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ' भी प्रकाशित हुई। जिसमें बाबू गुलाब राय ने व्यंग्यात्मक शैली में अपने जीवन की असफलताओं का सजीव चित्र उकेरा है।

इसी क्रम में सन् 1946 में राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। सन् 1949 में दूसरा तथा सन् 1967 में उनकी मृत्यु के उपरांत तीसरा भाग प्रकाशित हुआ। सन् 1947 के आरंभ में देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा में राजेंद्र प्रसाद ने देश की दशा का वर्णन किया है।

3. आत्मकथा लेखन का स्वातंत्र्योत्तर काल – (1947 के बाद से अब तक)

सन् 1948 में वियोगी हरि की आत्मकथा 'मेरा जीवन प्रवाह' प्रकाशन हुआ। इस आत्मकथा में समाज के निम्न वर्ग का मार्मिक वर्णन किया गया है। यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' का प्रथम भाग सन् 1951 में, दूसरा भाग सन् 1952 में और तीसरा भाग सन् 1955 में प्रकाशित हुआ। सन् 1952 में ही शांतिप्रिय द्विवेदी की आत्मकथा 'परिव्राजक की प्रजा' प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने अपने जीवन की करुण कथा का वर्णन किया है। सन् 1953 में देवेंद्र सत्यार्थी की आत्मकथा 'चाँद-सूरज के बीरन' प्रकाशन हुआ।

सन् 1960 में प्रकाशित पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा 'अपनी खबर' प्रकाशित हुई।

हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (सन् 1969), 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर' (सन् 1970), 'बसेरे से दूर' (सन् 1977) और 'दशद्वार से सोपान तक' (सन् 1985) चार भागों में विभाजित एवं प्रकाशित हिंदी की सर्वाधिक सफल और महत्वपूर्ण आत्मकथा मानी जाती है। बच्चन की आत्मकथा ने अनेक आत्मकथाकारों को जन्म दिया। बच्चन जी के बाद प्रकाशित आत्मकथाओं में वृन्दावनलाल वर्मा की 'अपनी कहानी' ((सन् 1970), देवराज उपाध्याय की 'यौवन के द्वार पर' (सन् 1970), शिवपूजन सहाय की 'मेरा जीवन' (सन् 1985), प्रतिभा अग्रवाल की 'दस्तक जिंदगी की' (सन् 1990) और भीष्म साहनी की 'आज के अतीत' (सन् 2003) प्रकाशित हुई।

समकालीन आत्मकथा साहित्य में दलित आत्मकथाओं का भी विशेष रूप से योगदान रहा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' और कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' (2002) तथा 'संतप्त' (2006) आदि आत्मकथाओं ने इस विधा को एक नया आयाम प्रदान किया।

वर्तमान समय में महिला और दलित आत्मकथाकारों ने इस विधा को सामाजिकता से जोड़ा है। महिला कथाकारों में मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान आदि का नाम विशेष रूप से लिया जाता है जिन्होंने आत्मकथा का लेखन किया है।

इसी क्रम में आत्मकथा एवं कथा साहित्य पर तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से दृष्टिपात करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आत्मकथा व्यक्ति के जीवन यात्रा की कहानी होती है परंतु यह कहानी अधूरी रहती है क्योंकि इसमें व्यक्ति के जीवन के एक पड़ाव का लेखा-जोखा ही प्रस्तुत किया जाता है। यदि आत्मकथा लेखन पूर्ण हो जाने के बाद लेखक कुछ और वर्षों तक जिंदा रहता है तो उन वर्षों का ब्यौरा आत्मकथा द्वारा प्राप्त नहीं होता है। जबकि कथा साहित्य में काल्पनिकता होने के बावजूद उसके अंतर्गत कहानी का प्रारंभ, विकास और अंत सुनियोजित ढंग से तथा व्यवस्थित रूप से होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि आत्मकथा व्यक्ति विशेष के जीवन की अनुकृति होने के साथ-साथ कथा साहित्य की तुलना में यह अनियोजित एवं अपूर्ण होती है। अत: कथा साहित्य के अंतर्गत इसे अधूरी कथा की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि कोई भी आत्मकथा लेखक अपनी मृत्यु के बाद तो आत्मकथा लिख नहीं सकता और जीवित रहकर लिखी गई आत्मकथा में जीवन के कुछ अंश शेष रह

जाते हैं। कहना न होगा कि आत्मकथा का अंत यह किसी कथा साहित्य की भाँति पूर्व नियोजित अंत नहीं होता है। बावजूद इसके आत्मकथा में कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली, कथोपकथन, उद्देश्य और वातावरण जैसे कथा साहित्य के तत्त्व विद्यमान रहते हैं।

कहना न होगा कि हिंदी आत्मकथा साहित्य यह कथाकार के अपने जिए हुए जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति है। आत्मकथा आज अपने जीवन की सार्थकता के कारण दिन-प्रतिदिन ऊँचाइयों की ओर अग्रसर है तथा हिंदी साहित्य में अपना स्थान सुनिश्चित किए हुए है।

हिंदी साहित्य में गद्य लेखन की विभिन्न विधाओं में आत्मकथा नामक इस विधा की शुरूआत हुई यह विधा साहित्य की अन्य विधाओं से अधिक विश्वसनीय एवं सत्याश्रित मानी जाती है। आत्मकथा विधा का उद्‌भव कब हुआ इस संबंध में विद्वानों में मतभेद पाये जाते हैं। अनेक विद्वान इस विधा को भारतीय वांग्मय में समाहित मानते हैं तथा वे बैदिक काल से इस की उत्पत्ति पर बल देते हैं। वे इस क्रम में पालि साहित्य में पाये गये भिक्षुणियों के वर्णन को इस कोटि में रखते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार जीवनी परक विधा का सूत्रपात आदिकाल के रासो साहित्य चरित्र काव्य के रूप में भी दृष्टिगोचर होता हैं। परतुं इन चरिच काव्य की प्रमाणिकता को लेकर संदिग्धता बनी हुई है। कुछ विद्वानों के अनुसार आत्मकथा का उद्‌भव भक्तिकाल से माना जाना चाहिए, क्योंकि भक्तिकाल में संत कवि अपने चरित्र के साथ अनुभूति, जीवन संघर्ष तथा सामाजिक स्थिति के बारे में स्पष्ट रूप से कहते दिखाई देते हैं। संतों ने अपने जन्म, जाति, व्यवसाय तथा परिवार का उल्लेख अपने काव्य में किया है। पर इस में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि संतों एवं भक्त कवियों का उद्देश्य अपना आत्मप्रकाशन करना अथवा आत्मप्रशंसा करना नहीं था। इस भावना से उन्होंने कभी भी नहीं लिखा। इस तरह के वर्णन अथवा प्रसंग संतों की स्पष्टवादी स्वभाव के कारण आये थे। अत: इस तरह उनके काव्य में पाये जाने वाले आत्मकथ्य संबंधी तथ्य को आत्मकथा कहना उचित नहीं होगा। अत: इस काल में आत्मकथा का उद्‌भव नहीं माना जा सकता है।

बाबर द्वारा डायरी के रूप में लिखी आत्मकथा 'बाबरनामा' को हरिवंशराय बच्चन जी विधिवत आत्मकथा मानते हैं और कहते हैं ''बाबरनामा में बातें खुलकर कही गयी हैं, जिसमें एक तरह की पकड़ है। ''यद्यपि बाबरनामा तुर्की में लिखा गया है। 18 वीं सदी में उर्दू के शायर मीर तकी मीर ने अपनी

आत्मकथा 'जिक्रेमीर' लिखी इसका अनुवाद हिंदी में भी हुआ है। बच्चन जी ने 'बाबरनामा' , 'जिक्रेमीर' , तथा 'अर्द्धकथानक' इन कृतियों को भारत भूमि से जुड़ी और पश्चिमी प्रभाव से बिल्कुल असंपृक्त माना है। 5 रीतिकाल के अंतिम चरण में और आधुनिक युग के प्रारंभ से पहले कवि बनारसीदास जैन के द्वारा लिखी आत्मकथा 'अर्द्धकथानक' को हिंदी की प्रथम आत्मकथा माना गया है।

हिन्दी आत्मकथा अपेक्षाकृत आधुनिक विधा है। हिन्दी की प्रथम आत्मकथा बनारसीदास जैन की 'अर्द्धकथानक' को माना जाता है, अत: हिंदी आत्मकथा का उद्‌भव यहीं से माना जाता है। यह आत्मकथा ब्रजभाषा पद्य में लिखी गयी है। जो सन् 1641 में लिखी गयी। जब यह आत्मकथा छपी तो लोगों ने आश्चर्य व्यक्त किया। इस आत्मकथा की मौलिकता के बारे में डॉ. विश्वबंधु शास्त्री ने लिखा है- "यह आश्चर्य का विषय है कि जब भारत में कोई आत्मकथा लिखे जाने की कल्पना भी नहीं कर सकता था, उस काल में हिंदी के प्रतिष्ठित कवि ने उत्कृष्ट आत्मकथा लिखी। जो उच्च स्तरीयता के निष्कर्ष पर प्रत्येक दृष्टि से खरी उतरती है।" इसके संबंध में हिन्दी साहित्यकोष-1 के संपादक मंडल का दावा है कि "कदाचित समस्त आधुनिक आर्यभाषा साहित्य में इससे पूर्व की कोई आत्मकथा नहीं है।" इसके बाद भारतेन्दु युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कुछ आपबीती,कुछ जगबीती' नामक आत्मकथा लिखी। सन् 1901 में अंबिकादत्त व्यास ने 'निजबृत्तांत' नामक आत्मकथा लिखी। इसके साथ ही स्वामी श्रद्धानंद की आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' हिंदी की आरंभिक आत्मकथाओं में से एक है। इसके अलावा श्यामसुंदर दास की आत्मकथा 'मेरी आत्मकहानी', गुलाबराय की 'मेरी असफलताएं' और सियारामशरण गुप्त की आत्मकथा 'झूठ-सच' आदि प्रमुख आत्मकथाएं हैं। आत्मकथा लेखन में महिला आत्मकथा लेखिकाओं का भी योगदान है। इस में अमृता प्रीतम का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। जिनकी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' है। इसके अलावा अन्य महिला आत्मकथा लेखिकाओं में, प्रतिभा अग्रवाल की 'दस्तक जिंदगी की', कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया',कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा', पद्‌मा सचदेव की 'बूंद बावड़ी और मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुंडल बसे' आदि उल्लेखनीय आत्मकथाएं हैं।

परिणाम एवं गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से हिंदी में आत्मकथा साहित्य समृद्ध है। आत्मकथा साहित्य में दलित आत्मकथाओं का स्थान महत्वपूर्ण है। दलित लेखकों ने शताब्दियों से शोषित-दमित अपने मन का दर्द और क्षोभ अपनी

आत्मकथाओं में बड़े प्रभावषाली ढंग से व्यक्त किया है। इन्होंने अपनी मन की पीड़ा से बाह्य जगत को परिचित कराया है तथा इस ओर सवर्ण समाज का ध्यान आकर्षित किया है तथा यह बताया है कि किस प्रकार हिन्दू समाज उन के साथ सदियों से घोर अन्याय कर करता आया है, और आज भी उनका दमन एवं षोषण जारी है। यह दलित आत्मकथा में साहित्य आज हिंदी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका है।

हिंदी आत्मकथा का विकास

हिंदी में आत्मकथा लेखन के शुरूआत के बाद अनेकों आत्मकथाएं लिखी गयी। विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े हुए लोगों ने अपनी-अपनी आत्मकथाएं लिखी। स्वतंत्रता से पूर्व तथा स्वतंत्रता के बाद भी अनेक देशभक्तों, स्वतंत्रता सेनानियों, समाज सुधारकों, साहित्यकारों तथा पत्रकारों आदि के द्वारा पर्याप्त मात्रा में आत्मकथा लेखन किया गया। आत्मकथा के विकास को निम्न प्रकार समझा जा सकता है।

1. स्वतंत्रता पूर्व कालखंड की आत्मकथाएं।
2. भारतीय लेखकों की अनुदित आत्मकथाएं।
3. स्वातंत्र्योत्तर कालखंड की आत्मकथाएं।
4. हिंदी साहित्यकारों की मौलिक आत्मकथाएं।
5. मराठी दलित आत्मकथाएं।
6. हिंदी में अनुदित मराठी दलित आत्मकथाएं।
7. हिंदी दलित आत्मकथा।

1. स्वतंत्रता पूर्व कालखंड की आत्मकथाएं - इस कालखंड में देशभक्तों तथा आर्यसमाजी संन्यासियों के द्वारा लिखी आत्मकथाएं अधिक मात्रा में प्राप्त होती हैं। इनमें से कई लेखक तो ऐसे भी हैं जिन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लिया तथा जेल भी गये। जिनमें से कुछ ने अपनी आत्मकथा जेल में ही लिखी। कुछ आत्मकथाएं प्रादेशिक भाषा में भी आई जिनका बाद में हिंदी में अनुवाद किया गया। इनमें से कुछ आत्मकथाएं इस प्रकार हैं–

सत्यानंद अग्निहोत्री- सत्यानंद अग्निहोत्री की आत्मकथा 'मुझ में देव जीवन का विकास' दो खंडों में प्रकाशित हुई। प्रथम खंड का प्रकाशन 1909 तथा द्वितीय भाग का प्रकाशन सन् 1918 में हुआ। इस आत्मकथा की आलोचना करते हुए विश्वबंधु ने लिखा है कि "इसमें आत्मश्लाघा भी पदे-पदे इस प्रकार

आपुरित है कि मानो स्वयं को अवतार सिद्ध करने के लिए अपनी चमत्कारिक शक्तियों का प्रदर्शन लेखक ने किसी बाध्यता की स्थिति में किया हो।" अतः इस आत्मकथा को स्तरीय नहीं माना जाता। भाई परमानंद की आत्मकथा 'आप बीती' नाम से सन् 1921 में आईइस आत्मकथा के बारें में विश्वबंधु शास्त्री ने लिखा है – "पुस्तक की भाषाशैली सरल, सरस, रोचक, प्रवाहशील, प्रभावपूर्ण और ऐतिहासिक है। इसे हिंदी की महत्वपूर्ण आत्मकथा का स्थान प्राप्त है, अतः क्रान्तिकारियों की आत्मकथाओं में यह सबसे पहले प्रकाश में आई।"

दयानंद सरस्वती – दयानंद सरस्वती की आत्मकथा सन् 1975 में प्राप्त होती है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने पूना प्रवचन में अपने जन्म से लेकर पूना प्रवचन के दिन तक की घटनाओं का उल्लेख किया है। इस आत्मकथा को उनके द्वारा स्वयं कथित आत्मकथा कहा जाता है। इसे हिंदी लिपिकों ने लिपिबद्ध किया। उपर्युक्त सभी आत्मकथाएं स्वतंत्रता पूर्व कालखंड की हैं।

2. भारतीय लेखकों की अनुदित आत्मकथाएं– भारतीय लेखकों की अनुदित आत्मकथाओं में प्रारंभिक काल में सर्वश्रेष्ठ आत्मकथाएं प्रकाशित हुई। इसमें महात्मा गांधी की आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' सन् 1927 में प्रकाशित हुई जिसका अनुवाद हरिभाऊ उपाध्याय के द्वारा किया गया था। रविन्द्रनाथ ठाकुर की आत्मकथा 'जीवन स्मृति' इस युग की दूसरी सर्वश्रेष्ठ आत्मकथा है। सूरजमल जैन ने इसका अनुवाद करके सन् 1930 में इसको प्रकाशित करवाया। इस आत्मकथा का अनुवाद मराठी व गुजराती में भी हुआ। महात्मा गांधी तथा रविन्द्रनाथ ठाकुर की आत्मकथाओं की आपस में तुलना भी हुयी। इस पर प्रकाश डालते हुए विश्वबंधु शास्त्री ने लिखा है– "दोनों ने अपने बचपन की समृतियों का विस्तार से चित्रण करने के लिए अपने बाल्य-जीवन संबंधी खण्ड आत्मकथाओं का पृथक निर्माण किया, जो परवर्ती काल में पृथक् आकार में प्रकाशित हुई और उन के हिंदी अनुवाद भी हुए।"

पं. जवाहरलाल नेहरू –पं. जवाहर लाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा मूलतः अंग्रेजी में लिखी जिसका नाम था 'माई स्टोरी'। इस आत्मकथा का अनुवाद हरिभाऊ उपाध्याय ने वियोगी हरि तथा कृष्ण दत्त पालीवाल के सहयोग से किया। इस आत्मकथा का प्रकाशन सन् 1936 में साहित्य मंडल से हुआ।

3. स्वातंत्रयोत्तर कालखंड की आत्मकथाएं– स्वतंत्रता के बाद आत्मकथा लेखन प्रचुर मात्रा में हुआ। स्वतन्त्रता से पूर्व जहां ख्याति प्राप्त महापुरुषों तथा अतुलनीय कार्य करने वाले लोगों ने ही आत्मकथा लिखी, वहीं

स्वतंत्रता के बाद विभिन्न कार्य क्षेत्र से जुड़े व्यक्तियों तथा सामान्य जन नेताओं ने भी आत्मकथा लेखन किया। इस कारण आत्मकथा का क्षेत्र विस्तृत हो गया। वियोगी हरि जी ने अपनी आत्मकथा 'मेराजीवन प्रवाह' लिखी, इस का प्रकाशन नई दिल्ली के सस्ता साहित्य मंडल ने किया।

इसके बाद गणेश प्रसाद वर्मा की आत्मकथा 'मेरी जीवन गाथा' सन् 1949 में जैन ग्रंथमाला काशी से तथा इसके एक वर्ष के बाद विनोद शंकर व्यास की आत्मकथा 'उलझी स्मृतियाँ' सन् 1950 में पुस्तक मंदिर काशी से प्रकाशित हुई। यशपाल ने अपनी आत्मकथा 'सिंहावलोकन' लिखी जिस का प्रकाशन तीन भागों में हुआ। इसका प्रथम खण्ड 1951 में, द्वितीय खंड 1952 में तथा तृतीय खंड सन् 1955 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद सन् 1951 में सत्यदेव परिव्राजक की आत्मकथा 'स्वतंत्रता की खोज में', अलगुराय शास्त्री की आत्मकथा 'मेरा जीवन' तथा अजित प्रसाद जैन की आत्मकथा 'अज्ञात जीवन' प्रकाशित हुई। सन् 1952 में शांति प्रिय द्विवेदी की आत्मकथा 'परिव्राजक की प्रजा' का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष पंजाब के प्रसिद्ध कवि और कथाकार देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्मकथा का प्रकाशन 'चांद सूरज के वीरन' नामक शीर्षक से हुआ। इस समय की अन्य प्रमुख आत्मकथाएं इस प्रकार हैं–

भगवानदास केला - प्रमुख समीक्षक और साहित्यकार भगवानदास केला की आत्मकथा 'मेरा साहित्यिक जीवन' 1943 ई. में भारतीय ग्रंथमाला इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। इसके साथ ही कालिदास कपूर की आत्मकथा 'मुदर्रिस की राम कहानी' तथा गंगा प्रसाद उपाध्याय की आत्मकथा 'जीवन चक्र' भी प्रकाशित हुई।

सेठ गोविंद दास -सेठ गोविंददास की आत्मकथा के तीन खंड हैं जिनका प्रकाशन 'आत्मनिरीक्षण' शीर्षक से सन् 1957 ई. में हुआ। सेठ गोविंददास की एक और आत्मकथा 'उथल-पुथल का युग' शीर्षक से प्रकाशित हुई। इसके बाद नरदेव शास्त्री की आत्मकथा 'आप बीती जग बीती' 1957 ई. में तथा धीरेन्द्र वर्मा की 'मेरी कालिज डायरी' सन् 1958 ई. में प्रकाशित हुई।

हरिवंयाराय बच्चन -हरिवंशराय बच्चन ने अपनी आत्मकथा को चार भागों में विभाजित किया है।

प्रथम भाग- सन् 1963 से 1969 ई. तक लिखित 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' प्रकाशन 1969 ई.।

द्वितीय भाग- 'नीड़ का निर्माण फिर' प्रकाशन सन् 1970 ई.।

तृतीय भाग- 'बसेरे से दूर' प्रकाशन 1977 ई.।

चतुर्थ भाग- 'दसद्वार से सोपान तक' प्रकाशन 1985 ई.।

हरिवंशराय बच्चन जी की आत्मकथा के प्रत्येक खंड के प्रतिवर्ष अनेक संस्करण निकले। इसे इस आत्मकथा की लोकप्रियता का परिचायक ही कहा जा सकता है। सन् 1976 में स्वामी सोमानंद की आत्मकथा हिंदी और उर्दू में एक साथ 'जीवन की धूप छांव' शीर्षक से प्रकाशित हुई। इसी वर्ष सरनाम सिंह अरुण की विशृंखल आत्मकथा बमौत मेरे पास आई शीर्षक से प्रकाशित हुई।

4. हिंदी साहित्यकारों की मौलिक आत्मकथाएं- हिंदी साहित्यकारों की मौलिक आत्मकथाएं 1980 ई. के बाद आनी शुरू हुई। इसमें साहित्य जगत की महत्वपूर्ण आत्मकथाओं का उल्लेख होता है। मोहन राकेश की 'समय सारथी', ब्रजगोपाल दास अग्रवाल की 'नदिया से सागर तक' तथा भगवती चरण वर्मा की 'ये सात और हम' आदि प्रमुख आत्मकथाएं हैं। इसके अलावा भीष्म साहनी की 'आज के अतीत', कृष्णा सोबती की 'हम हशमत' भाग- 1, राजेन्द्र यादव की 'मुड़-मुड़ के देखता हूं', ज्ञानरंजन की 'कबाड़खाना', डॉ. कर्ण सिह की 'आत्मकथा' ज्ञानचंद जैन की 'कथाशेष 'जाबिर हुसैन की 'अतीत का चेहरा', वृदावन लाल वर्मा की 'अपनी कहानी' मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुंडलि बसै', काशीनाथ सिंह की 'याद हो कि न हो', विजयराजे सिंधिया की 'राजपथ से लोकपथ' पर आदि अनेक आत्मकथाएं हिन्दी साहित्य में उपलब्ध हैं। इन से हिंदी आत्मकथा साहित्य समृद्ध ही हुआ है।

5. मराठी दलित आत्मकथाएं-हिंदी साहित्य में आत्मकथा लेखन का प्रभाव पूर्ण पदार्पण दलित आत्मकथाआ से ही हुआ है। जिससे आत्मकथा साहित्य को ख्याति मिली और हिंदी दलित आत्मकथाएं मराठी दलित आत्मकथों से ही प्रेरित हैं। हालांकि आत्मकथाएं इससे पहले से ही लिखी जा रही थी। दलित साहित्य के प्रेरणा श्रोत डॉ. भीमराव अंबेडकर ने अपनी आत्मकथा 'अमी कसा झालो' लिखकर दलित लेखकों को अपन आत्मकथा लिखने को प्रेरित किया। इस संबंध में डॉ. श्योराज सिंह बेचौन ने लिखा है कि- वस्तुतः यह डॉ. अम्बेडकर थे, जिनकी प्रेरणा और प्रभाव से ही आत्मकथा लेखन प्रारंभ हुआ, उन्होंने स्वयं अंतरंग बातें प्रो. सत्यबोध हुदलीकर की डायरी में दर्ज कराई थीं। तत्कालीन मराठी साहित्य की स्थापित पत्रिका नवयुगश के अंबेडकर विशेषांक (13 अप्रैल, 1947) में इसे प्रकाशित किया था। पत्रिका में उनकी आत्मकथा का एक अंश प्रकाशित हुआ था। उसके बाद डॉ. अंबेडकर ने मैं कैसे बना ?

शीर्षक से आत्मकथा लिखना प्रारंभ किया था। मराठी दलित आत्मकथाएं आठवें दशक से लिखी गयी। जिनको वहां 'आत्मवृत्त' कहा गया। इसका प्रभाव बींसवीं सदी के अंतिम दशक में हिंदी पर भी पड़ा। इससे हिंदी साहित्य में दलित आत्मकथा लिखे जाने का आगाज हुआ। कुछ देरी से ही सही लेकिन इसके माध्यम से दलितों की आत्मपीड़ा सामने आने लग गयी। मराठी दलित आत्मकथाओं ने साहित्य जगत में खलबली मचा दी थी।

मराठी आत्मकथाओं का स्वर बेचैन कर देने वाला था। मराठी दलित आत्मकथा लेखन की शुरूआत सोनकांबले की आत्मकथा 'आठवणीचे पक्षी' से मानी जाती है। परन्तु दया पवार कृत बंलुत जो 28 दिसंबर सन् 1978 को प्रकाशित हुई को मराठी की प्रथम प्रकाशित आत्मकथा माना जाता है। सोनकांबले की आत्मकथा 'आठवणीचे पक्षी' कुछ महीने बाद 27 जनवरी 1979 को प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा के प्रकाशित होने पर दलित साहित्यकार बाबुराव बागुल ने कहा कि–'यह पुस्तक मराठवाड़ के दलित जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। अगर यह पुस्तक इस से पूर्व ही प्रकाशित हुई होती तो मराठावाड़ा का औद्योगिक विकास करने के लिए तो बिचार हुआ होता। मराठावाड़ा में सामंतशाही समाज व्यवस्था ने ही यहां गरीबी और दासता पैदा की है यह तो दिखता। मराठवाड़ा के औद्योगिक उत्थान के लिए कुछ प्रचारक प्रस्तुत पुस्तक ने तैयार किये होते।' दलित आत्मकथाकारों ने इस बात को महसूस किया कि जिस प्रकार के जीवन को हम भोग रहे हैं हमको उसके बारे में लिखना चाहिए। दलित आत्मकथा लेखक अपनी गरीबी, पीड़ा, दासता, दरिद्रता, विवशता, भूख षोषण, तथा अपने साथ हुए अत्याचार और अन्याय को अपने शब्दों में व्यक्त करता है। इन आत्मकथाओं से दलित समाज में जागरूकता आई, और दलित समाज अपने बारे में सोचने लगा तथा अपनी बेहतरी के बारे में सोचने लगा। इसके बाद लक्ष्मण माने की आत्मकथा 'उपरा' सन् 1980 में प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा को काफी प्रशंसा मिली तथा अनेक पुरस्कार भी प्राप्त हुए। मराठी दलित आत्मकथा महिला लेखिकाओं में कुमुद पावड़े का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। इन्होंने 'अंत:स्फोट' नामक शीर्षक से अपनी आत्मकथा लिखी जो सन् 1981 में प्रकाशित हुई। सन् 1982 में नानासाहेब झोडगे की आत्मकथा 'फाजर' शीर्षक से तथा सन् 1983 में दादासाहेब मल्हारी की आत्मकथा 'गबाल' शीर्षक से प्रकाशित हुई।

सन् 1984 में शरण कुमार लिंबाले की आत्मकथा अक्करमाशी प्रकाशित हुई। यह आत्मकथा काफी प्रचलित हुई इसके कारण लेखक को काफी पहचान मिली। मराठी में दलित महिला लेखिकाओं ने भी आत्मकथाएं लिखी। इसमें उर्मिला पवार की 'आयदान' नामक आत्मकथा प्रमुख है। मराठी साहित्य में 'बलुंत' आत्मकथा से प्रारंभ हुई आत्मकथा की परंपरा आज भी जारी है। मराठी दलित साहित्य में आज भी आत्मकथाएं लिखी जा रही है और आगे भी लिखे जाने की संभावना है।

6. हिंदी में अनुदित मराठी दलित आत्मकथाएं- दलित आत्मकथाओं की शुरूआत मराठी दलित आत्मकथाओं से हुई, इन मराठी दलित आत्मकथाओं का हिंदी में भी अनुवाद हुआ। मराठी दलित आत्मकथाओं का हिंदी में अनुवाद होना सन् 1984 से होना प्रारंभ हुआ। लगभग-लगभग सभी महत्वपूर्ण मराठी दलित आत्मकथाओं का हिंदी में अनुवाद हुआ। दया पवार की आत्मकथा 'बलुंत' का हिंदी में अनुवाद 'अछूत' शीर्षक से हुआ। इसी तरह शरण कुमार लिंबाले की आत्मकथा अक्करमाशी का अनुवाद दोगला शीर्षक से, लक्ष्मण गायकवाड़ की आत्मकथा उचाल्या का हिंदी अनुवाद उठाईगीर शीर्षक से, तथा सोनकांवले की आत्मकथा आठवणीचे पक्षी का हिंदी अनुवाद यादों के पंछी नामक शीर्षक से हुआ।

अत: कहा जा सकता है कि मराठी दलित आत्मकथाएं हिंदी दलित आत्मकथाओं की मार्गदर्शक रही हैं। इसी कारण मराठी दलित आत्मकथाओं का प्रचुर मात्रा में हिंदी में अनुवाद हुआ है तथा इन्हीं आत्मकथाओं से प्रेरित हो कर ही हिंदी में दलित आत्मकथाओं का प्रारंभ हुआ और इन आत्मकथाओं ने हिंदी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। कहा तो यहाँ तक जाता है कि दलित आत्मकथाओं के आने से ही हिंदी गद्य की आत्मकथा नामक विधा अत्यधिक प्रचलित हुई, जिस पर आलोचकों का अधिक ध्यान नहीं जाता था।

7. हिंदी दलित आत्मकथा - हिंदी दलित आत्मकथा का इतिहास बहुत ज्यादा पुराना नहीं है। इसी कारण हिंदी में दलित आत्मकथाओं की संख्या भी कम ही है। हिन्दी में सर्वप्रथम दलित आत्मकथा भगवानदास की आत्मकथा ''मैं भंगी हूँ'' सन् 1981 में प्रकाशित हुई। पर साहित्य जगत में इसकी चर्चा आत्मकथा के रूप में न होकर आत्मकथात्मक उपन्यास के रूप में अधिक हुई। इसके बाद बींसवीं सदी के अंतिम दशक में मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा "अपने-अपने पिंजरे भाग-1" सन् 1995 में प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा का

दूसरा भाग "अपने-अपने पिंजरे भाग-2" सन् 2000 में वाणी प्रकाशन नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ। सन् 1997 में ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा "जूठन" राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली से प्रकाशित हुई। इसके बाद सन् 1999 में कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा "दोहरा अभिषाप" परमेष्वरी प्रकाशन प्रीत विहार, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई। तत्पश्चात् सन् 2002 में सूरजपाल चौहान की आत्मकथा "तिरस्कृत" का प्रकाशन लाजपतनगर साहिबाबाद (उ.प्र.) से हुआ। इसके अलावा सन् 2000 में डी. आर. जाटव की आत्मकथा "मेरा सफर मेरी मंजिल" का प्रकाशन समता साहित्य सदन, जयपुर से हुआ। सन् 2002 में पूर्व राज्यपाल माता प्रसाद की आत्मकथा "झोपड़ी से राजभवन" नमन प्रकाशन नई दिल्ली से प्रकाशित हुई।

इन आत्मकथाओं ने हिंदी में हलचल पैदा कर दी है। हलचल पैदा करने का कारण है, इन आत्मकथाओं में मानवता को शर्मसार कर देने वाला जीपन यथार्थ जो बेहद अमानवीय है और जिसको इन दलित लेखकों के साथ-साथ सम्पूर्ण दलित समाज ने भोगा है। इन पर टिप्पणी करते हुए डॉ. यौराज सिंह बेचौन ने लिखा है कि "दलित आत्मकथाओं में दलित छवि एक सचेतन आत्म संघर्षरत स्वाभिमानी व्यक्ति की छवि के रूप में उभरकर सामने आई है। दलित आत्मकथाकार अतीत की भद्दी तस्वीरें देखते हैं। साथ-साथ उन हाथों को भी पकड़ते हैं जिन्होंने कई सौन्दर्य से भरी जीवन झाँकियों पर ईर्ष्यावश कालिख पोत दी है। इतिहास विहीन समाज में ये आत्मकथाएँ सूचनाओं, तथ्यों और स्थितियों के ऐसे प्रमाण जुटाती हैं जिनके बगैर हिन्दी समाज का अध्ययन अधूरा है।"

हिन्दी आत्मकथा के विकास में हिन्दी साहित्यकारों का भी विशेष योगदान है। जिसमें प्रमुख रूप से राहुल सांकृत्यायन, बाबू श्यामसुंदर दास, सेठ गोविंददास, यशपाल तथा पाण्डेय बेचेन शर्मा उग्र का नाम लिया जाता है। बाबू गुलाबराय की आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ', हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा तथा अमृता प्रीतम की अनुदित आत्मकथा 'रसीदी टिकट' विशेष रूप से सराहनीय हैं।

बीसवीं सदी में मराठी दलित आत्मकथाएँ लिखी गई, जो भाषा, शैली तथा विचार की दृष्टि से उपर्युक्त आत्मकथा से भिन्न थीं। इसके बाद मराठी से हिंदी में अनुदित आत्मकथाएँ प्रकाश में आई। परिणामस्वरूप हिंदी में भी दलित आत्मकथाएँ लिखी गई। हिंदी दलित आत्मकथा लेखकों में मोहनदास

नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, भगवानदास, कौशल्या बैसंत्री, सूरजपाल चौहान, माता प्रसाद तथा डी.आर.जाटव का नाम सम्मान से लिया जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आत्मकथा हिन्दी गद्य की एक आधुनिक विधा है, जो निरंतर प्रगति के पथ पर है। आत्मकथा में लेखक अपने निजी जीवन से जुड़े अनुभवों, भावों, विचारों, तथा अनुभूति को देशकाल और युगीन परिवेश के समांतर बिम्ब-प्रतिबिम्ब में कलात्मक एवं प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त करता है।

आत्मकथा का अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं एवं तत्त्व

आत्मकथा के लिए अंग्रेजी में 'आटोबायोग्राफी' शब्द प्रचलित है। जब लेखक स्वयं के जीवन का क्रमिक ब्यौरा प्रस्तुत करता है, तो उसे आत्मकथा कहा जाता है। आत्मकथा में स्वयं की अनुभूति होती है। इसमें लेखक उन तमाम बातों का विवरण देता है, जो बातें उसके जीवन में घटी होती हैं। आत्मकथा में लेखक अपने अन्तर्जगत को बहिर्जगत के सामने प्रस्तुत करता है, इसमें आत्मविश्लेषण होता है।

हिंदी साहित्य में आत्मकथा एक अपेक्षाकृत आधुनिक विधा है। आत्मकथा सत्य पर आधारित होती है, क्योंकि लेखक उसमें अपने दोषों को भी निर्ममता से उजागर करता है। हालाँकि कौंन कितना अपने दोषों को उजागर करता है यह बात तो लेखक की ईमानदारी पर ही निर्भर करती है। आत्मकथा में लेखक अपने जीवन के बारे में लिखता है तथा समाज के सामने स्वयं को प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करता है। जिससे समाज उसके जीवन के पहलुओं से परिचित होता है। आत्मकथा विधा के कई पयार्यवाची नाम भी मिलते हैं। आत्मकथा को परिभाषित करने से पहले हम को इस शब्द की उत्पत्ति एवं अर्थ को जान लेना चाहिए। ''आत्म यह शब्द आत्मन शब्द से उत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ लिया जाता है 'स्वयं का'आत्मचरित, आत्मकथा, आत्मकथन। इन शब्दों का सामान्यत: एक ही अर्थलिया जाता है।

आत्मकथा की परिभाषा

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार- आत्मकथा, व्यक्ति के जिये हुएजीवन का ब्यौरा है, जो स्वयं उस के द्वारा लिखा जाता है।

कैसेल ने एनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिटरेचर में आत्मकथा को परिभाषित करते हुए कहा है कि- आत्मकथा व्यक्ति के जीवन का विवरण है, जो स्वयं के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इसमें जीवनी के अन्य प्रकारों से सत्य का अधिकतम समावेश होना चाहिए।

हरिवंशराय बच्चन कहते हैं–आत्मकथा, लेखन की वह विधा है, जिस में लेखक ईमानदारी के साथ आत्मनिरीक्षण करता हुआ अपने देश, काल, परिवेश से सामंजस्य अथवा संघर्ष के द्वारा अपने को विकसित एवं प्रस्थापित करता है।

डॉ. नगेन्द्र ने आत्मकथा को इस प्रकार परिभाषित किया है–आत्मकथाकार अपने संबंध में किसी मिथक की रचना नहीं करता, कोई स्वप्न सृष्टि नहीं रचता,वरन् अपने गत जीवन के खट्टे-मीठे, उजाले अंधेरे, प्रसन्न-विषण्ण,साधारण-असाधारण संचरण पर मुड़कर एक दृष्टि डालता है, अतीत को पुनः कुछ क्षणों के लिए स्मृति में जी लेता है और अपने वर्तमान तथा अतीत के मध्य सूत्रों काअन्वेषण करता है।

डॉ. कुसुम अंसल ने कहा है- आत्मकथा लिखना अपने अस्तित्त्व के प्रतिकर्ज चुकाने जैसी प्रक्रिया या संसार चक्र में फॅसे अपने अस्तित्त्व की डोर को उधेड़लेने का साहित्यिक प्रयास है।

डॉ. शान्तिखन्ना के अनुसार- जब लेखक किसी अन्य व्यक्ति के जीवनचरित्र को चित्रित करने की अपेक्षा अपने ही व्यक्तित्त्व का विश्लेषण विवेचन पूर्णरूप से करता है, तब वह आत्मकथा कहलाती है। आत्मकथा का नायक लेखक स्वयं होता है, इसमें लेखक जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन करता है।आत्मकथा लेखक आत्मविवेचन, आत्मविश्लेषण के दृष्टिकोण से लिखता है। इसके साथ वह आत्मप्रचार की भावना से भी व्यक्तिगत जीवन का विवेचन करता है। वह चाहता है कि उसके अनुभवों का लाभ अन्य लोग भी उठा सकें, इस प्रकार गद्य साहित्य में इस विधा का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः स्पष्ट है कि जब लेखक अपने जीवन का विश्लेषण, विवेचन स्पष्ट रूप से करता है, तब वह आत्मकथा कहलाती है। जीवनीपरक साहित्य का वह अन्यतम भेद है। आत्मकथा लेखक साहित्यिक,राजनीतिक, धार्मिक कोई भी हो सकता है, परन्तु लेखक का सर्वप्रतिष्ठित एवंसर्वमान्य होना आवश्यक है।

डॉ. साधना अग्रवाल के अनुसार- आत्मकथा लिखने की शर्त है ईमानदारी से सच के पक्ष में खड़ा होना और अपनी सफलता-असफलताओं का निर्ममता पूर्वक पोस्टमार्टम करना।

डॉ. त्रिगुणायत ने आत्मकथा की परिभाषा इस प्रकार दी है- आत्मक थालेखक की दुर्बलताओं-सबलताओं आदि का वह संतुलित और व्यवस्थित चित्रण है जो उसके संपूर्ण व्यक्तित्त्व के निपक्ष उद्घाटन में समर्थ होता है। इसी परिभाषा से मेल खाती हुई परिभाषा डॉ. चंद्रभानु सोनवणे की है। वे कहते हैं- आत्मकथा वह गद्य विधा है जिसमें लेखक निजी जीवन एवं व्यक्तित्त्व का सर्वांगीण अध्ययन तटस्थ एवं संतुलित दृष्टि से करता है।

डॉ. श्यामसुंदर घोष के अनुसार- आत्मकथा समय-प्रवाह के बीच तैरने वाले व्यक्ति की कहानी है। इसमें जहाँ व्यक्ति के जीवन का जौहर प्रकट होता है वहाँ समय की प्रवृत्तियाँ और विकृतियाँ भी स्पष्ट होती हैं। इन दोनों घात प्रतिघात से ही आत्मकथा में सौन्दर्य और रोचकता का समावेश होता है। डॉ. श्यामसुंदर घोष की परिभाषा से यह बात स्पष्ट होती है कि आत्मकथा से न केवल उस व्यक्ति की जीवन-कहानी का पता चलता है बल्कि समसामयिक परिस्थितियों के ऐतिहासिकतथ्यों के साथ व्यक्तित्त्व के गढ़ने में उन के सहयोग का भी पता चलता है।

आत्मकथा की विशेषताएं

आत्मविश्लेषण- आत्मकथा में लेखक खुद का विश्लेषण करता है। अपनी अच्छाइयों और बुराइयों का विश्लेषण करता है। इसमें लेखक उन तथ्यों को भी उजागर करता है जिससे उसके जीवन में सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव पड़ा। आत्मकथा लेखन को काफी हिम्मत का काम माना जाता है। क्योंकि हर व्यक्ति में इतना साहस नहीं होता कि वह अपनी कमजोरियों को समाज के सामने रख सके, शायद इसीलिए हिंदी में आत्मकथा लेखन का उद्भव काफी बाद में हुआ।

आत्मालोचन- आत्मलोचन आत्मकथा की काफी महत्वपूर्ण विशेषता है। आत्मकथा लेखक खुद को काफी करीब से देखता है तथा अपने सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलुओं का काफी निकटता से अवलोकन करता है। अपने जीवन की घटनाओं को काफी निकट से देखता है, जिन घटनाओं ने उसके जीवन को प्रभावित किया या उसके जीवन के विकास में योगदान दिया।

लेखक का समाज से परिचय- आत्मकथा में लेखक का समाज से परिचय भी होता है। समाज लेखक की आत्मकथा को पढ़कर उसके जीवन के बारे में जानकारी प्राप्त करता है। इससे समाज का लेखक के जीवन की उन

घटनाओं और तथ्यों से परिचय होता है, जिससे समाज आज तक अनभिज्ञ था। इसमें बहुत बार वो बातें सामने आती हैं जिनके बारे में किसी को पता नहीं होता। इस बातों का परिचय आत्मकथा से ही होता है। आत्मकथाएं बहुत बार समाज को प्रेरणा प्रदान करने का काम भी करती हैं। समाज जब उन महान व्यक्तियों की आत्मकथा पड़ता है, जिन्होंने समाज के लिए अपना जीवन न्यौछावर कर दिया या जिन्होंने तमाम संघर्षों के बाद अपने जीवन में सफलता पाई, इस प्रकार की आत्मकथाओं से समाज को प्रेरणा ही मिलती है, जो भावी पीढ़ी के लिए प्रेरणा और मार्गदर्शन का काम करती हैं।

घटनाओं का विवरण- आत्मकथा में लेखक अपने जीवन में घटित घटनाओं का विवरण भी प्रस्तुत करता है। उसके साथ जो घटनाएं होती हैं, लेखक अपनी आत्मकथा में उसका सिलसिलेवार विवरण देता है। आत्मकथा उसके जीवन की घटनाओं को बयाँ करती है।

वास्तविक जीवन से परिचय- आत्म कथा लेखक के जीवन से वास्तविक परिचय कराती है। क्योंकि उसमें उन बातों का भी विवरण होता है, जिन बातों से पाठक वर्ग अनभिज्ञ होता है। क्योंकि हर आदमी के जीवन में वे बातें होती हैं, जो बस उसी से संबंधित होती हैं। उन बातों को लेखक अपनी आत्मकथा में उकेरता है। इसलिए आत्मकथा पाठक वर्ग को लेखक के वास्तविक जीवन से परिच यकराती है।

आत्मकथा के तत्त्व

किसी भी विधा को समझने के लिए उसके तत्त्वों को समझना आवश्यक है। जिसके आधार पर हम उसको अन्य विधाओं से अलग कर सकें। आत्मकथा की परिभाषाओं से उसकी विधा का पता चलता है। पर इस को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम आत्मकथा के तत्त्वों के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे। विभिन्न विद्वानों ने आत्मकथा के अनेक तत्त्व बतलाए हैं, हम डॉ.शान्तिखन्ना के द्वारा बताये गये आत्मकथा के तत्त्वों पर चर्चा कर रहे हैं। डॉ.शान्तिखन्ना ने आत्मकथा के प्रमुख तत्त्व बताये हैं–

1. वर्ण्य विषय
2. चरित्र-चित्रण
3. देशकाल
4. उद्देश्य
5. भाषा-शैली

वर्ण्य विषय

आत्मकथा में इस तत्त्व को प्रमुख रूप में स्वीकार किया गया है।आत्मकथा में लेखक अपने जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं और विषयों का वर्णन करता है। लेखक द्वारा आत्मकथा में वर्णित विषय में सत्यता का होना जरूरी है। आत्मकथा लेखक का वर्ण्य विषय काल्पनिक नहीं वरन् यथार्थ पर आधारित होना चाहिए। आत्मकथा लेखक अपने जीवन की घटनाओं के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी वर्णन करता है। आत्मकथा लेखक को इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि आत्मकथा में अनावश्यक आत्मविस्तार तथा शील संकोच न आने पाए। अत: आत्मकथा के वर्ण्य विषय में सच्चाई और ईमानदारी का होना आवश्यक है। अन्य महत्वपूर्ण गुण जो कि वर्ण्य विषय को रोचक बनाता है वह है संक्षिप्तता। आवश्यकता से अधिक विस्तार विषय को नीरस बना देता है। अत: आत्मकथा में रोचकता, स्पष्टवादिता, यथार्थता,सत्यता, स्वभाविकता एवं संक्षिप्तता होनी चाहिए जिससे आत्मकथा श्रेष्ठ होती है।

चरित्र-चित्रण

आत्मकथा साहित्य कर दूसरा महत्वपूर्ण तत्त्व है चरित्र-चित्रण इसका सम्बन्ध पात्रों से होता है। आत्मकथा लेखन में आत्मकथाकार ही खुद प्रमुख पात्र होता है। अत: आत्मकथा लेखक खुद के चरित्र के सभी पक्षों का विश्लेषण भी आत्मकथा में करता है। आत्मकथाकार के लिए यह नितांत आवश्यक है कि वह निष्पक्ष एवं निर्दोष भाव से आत्म विवेचन करें। स्पष्ट है किआत्मकथाकार को गुण-दोषों का विवेचन सत्यता के धरातल पर करना चाहिए। उसके आत्मप्रकाशन में किसी तरह का मोह नहीं होना चाहिए। इस तरह की आत्मकथा ही सच्ची आत्मकथा है।36 प्राय: आत्मकथाकार अपने व्यक्तित्त्व को स्पष्ट करने के लिए उन व्यक्तियों का भी वर्णन करता है जिनका उसके जीवन पर प्रभाव पड़ा अथवा जिन व्यक्तियों से उसका संबंध रहा है। बच्चन ने अपनी आत्मकथा में अपने पिता जी के स्वभाव का भी वर्णन किया हैं। उनके सम्बन्ध में कहा है–मेरे पिता की अपने लड़कों के बारे में कोई महत्वाकांक्षा न थी। मेरे मैट्रिकुलेशन में फेल होने के बाद अगर उनकी चलती तो मुझे नौकरी करने को बाध्य कर देते। स्पष्ट है कि लेखक प्रसंगानुसार उन सभी लोगों का वर्णन करता है जिनका उससे

सम्बन्ध रहा है। जिससे उसके खुद को व्यक्तित्त्व को समझने में सहायता मिलती है।

देशकाल

आत्मकथा में सजीवता लाने के लिए इसमें देशकाल का होना आवश्यक माना गया है। देश काल का असर प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्त्व पर पड़ता है। इससे उसकी उन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक प्रभाव क्षेत्र का पता चलता है जिससे वह आता है। इस प्रकार गौण रूप में तत्कालीन परिस्थितियों का पता भी चलता है।

भाषा-शैली

आत्मकथा में भाषा-शैली का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। संप्रेषणीयता के लिए भाषा शैली का अच्छा होना बहुत जरूरी है। शैली अनुभूत विषय-वस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है, जो विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति को सुंदर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं। इसमें असामान्य अधिकार के अभाव में लेखक की सफलता संभव नहीं। आत्मकथा की शैली में प्रभावोत्पादकता का होना अति आवश्यक है। इसी के कारण आत्मकथा पाठक के मन में अपना प्रभाव डाल पाती है। इसलिए लेखक को नि:संकोच रूप से अपने जीवन का वर्णन करना चाहिए जिसका पाठक के ऊपर प्रभाव पड़ता है। लेखक को जीवन के उत्थान-पतन तथा गुण-दोषों का विवेचन इस प्रकार करना चाहिए कि वह पाठक को रुचिकर लगे। लेखक को अपने समस्त जीवन का वर्णन इस प्रकार करना चाहिए जिससे अनावश्यक विस्तार भी न हो और साथ में गठित भी हो। क्रमानुसार वर्णन अधिक रोचक होता है। आत्मकथाएँ विभिन्न शैलियों में लिखी जाती हैं। ये शैलियां आत्मनिवेदनात्मक, भावात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा हास्य प्रधान आदि हैं।

अत: कहा जा सकता है कि आत्मकथा में प्रभावोत्पादकता, लाघवता, नि:संकोच आत्मविश्लेषण, सुसंगठितता तथा स्पष्टता आदि गुणों को होना चाहिए। आत्मकथा में जहाँ तक भाषा की बात है, भाषा भावाभिव्यक्ति का साधन होती है। आत्मकथा में भाषा को भावानुकूल और विषयानुकूल होना चाहिए। लेखक की भाषा को शुद्ध, स्पष्ट, परिष्कृत और परिमार्जित होना चाहिए जिस से वह पाठकों को प्रभावित कर सकता है। भाषा को श्रेष्ठ बनाने

के लिए शब्दों का चयन विषय एवं भावों के अनुकूल होना चाहिए, तथा भाषा का प्रयोग पात्रों एवं परिवेश के अनुरूप होना चाहिए। जिसे आत्मकथा पाठकों को प्रभावित करती है।

अस्मिता और आत्मकथा की चुनौतियां

लेखक के विजन का उसके सामयिक सरोकारों के साथ गहरा संबंध होता है। इन दिनों लेखक के बारे में जितनी भी बातें हो रही हैं वे लेखक के दार्शनिक सैद्धान्तिक नजरिए को दरकिनार करके हो रही हैं। लेखक के बारे में हम हल्के -फुलके ढ़ंग या चलताऊ ढ़ंग से सोचा जा रहा है। साहित्य और जीवन से जुड़े गंभीर सवालों से किनाराकशी चल रही है। आज हम लेखक के विजन की बातें नहीं कर रहे बल्कि हल्की-फुल्की चुटकियों के जरिए बहस कर रहे हैं। किसी भी लेखक को पढ़ने का सबसे सटीक प्रस्थान बिंदु है उसका विजन। विजन पर बातें करने का अर्थ है उसके दार्शनिक प्रकल्प में दाखिल होना। बगैर दार्शनिक प्रकल्प में दाखिल हुए किसी भी कवि की कविता या साहित्य को विश्लेषित करना संभव नहीं है।

सवाल उठता है रचना का लेखक कौन है ? अमूमन रचना व्यक्तिगत प्रयास के रूप में जानी जाती थी। आज रचना का लेखक व्यक्ति नहीं है, बल्कि रचना सामूहिक सृजन की देन है। 'रश्मिरथी' में कर्ण कथा को विषय-वस्तु के रूप में चुनकर लेखक ने सर्जक के नए आयाम का उद्‌धाटन किया है। यह महाभारत की कहानी है। महाभारत सामूहिक लेखन की देन है। इस अर्थ में दिनकर ने एकदम नयी समस्या की ओर ध्यान खींचा है। आज के युग में लेखन व्यक्तिगत की बजाय सामूहिक अथवा सहयोगी होगा। कर्ण की कहानी हम वर्षों से सुनते आ रहे हैं। कहानी पुरानी है,काव्य प्रस्तुति नयी है। 'रश्मिरथी' में कर्ण का चित्रण टाइप पात्र के रूप में हुआ है। यह पात्र हमारे मन में रमा हुआ है। टाइप पात्र के बहाने कर्ण हमारे मन की तहों को खोलता है।

टाइप पात्र होने के कारण कर्ण ने 'अस्मिता' के अन्तर्विरोधों को अभिव्यक्त किया है। 'अस्मिता' में प्रतिस्पर्धा,उत्तेजना और त्रज्ञसदी भाव प्रमुख रूप से होता है। अस्मिता की धुरी है 'अन्याय'। अस्मिता विमर्श अन्याय के सवालों को केन्द्र में लाता है। अस्मिता अमूमन संवेदनात्मक उत्तेजना से ऊर्जा ग्रहण करती है। भाषा उसका सेतु है। अस्मिता विमर्श में उत्तेजक भाषा प्रमुख उपकरण है। यही वजह है कि 'रश्मिरथी' में वीरत्व व्यंजक भाषिक संरचना का

इस्तेमाल किया गया है। अस्मिता की भाषा 'व्यक्तिगत आत्महीनता' को बार-बार व्यक्त करती है। कर्ण की भाषा में इसे सहज ही देखा जा सकता है।

'रश्मिरथी' के कुछ बुनियादी तत्त्व हैं, जो उभरते हैं पहला है अस्मिता हमेशा प्रतिस्पर्धी और बहुरूपी होती है। दूसरा तत्त्व है भावुकता और सामाजिक तनाव। तीसरा, आत्महीनता। चौथा,अस्मिता का सामयिक फ्रेमवर्क। पांचवा।, अस्मिता की राजनीति। अस्मिता विमर्श का सत्ता विमर्श के साथ संबंध। छठा, अस्मिता विमर्श व्यक्तिवादी विमर्श है।

अस्मिता विमर्श का इन दिनों जो रूप देखने में आ रहा है, उसके दो प्रमुख आयाम है– पहला है 'अन्याय' और दूसरा है ' इर्च्छापूत्ति'। सामाजिक-सांस्कृतिक रूपों में इन दो रूपों में अस्मिता का व्यापक उपभोग हो रहा है। अस्मिता विमर्श मूलत: उत्पादक होता है। सामाजिक शिरकत को बढ़ावा देता है। पात्र क्या चाहते हैं। यही इसके आख्यान की धुरी है। लेखक ने 'रश्मिरथी' में व्यक्तिगत इच्छाओं को ऐतिहासिक- राजनीतिक संरचनाओं के फ्रेमवर्क में रखकर पेश किया है। पात्र क्या चाहते हैं ? यही प्रधान बिंदु है जिसके इर्द-गिर्द सारा कथानक घूमता है।

कर्ण के बहाने लेखक यह रेखांकित करना चाहता है कि किसी भी पात्र की अस्मिता एक नहीं होती बल्कि उसके व्यक्तित्त्व में एकाधिक अस्मिताएं होती हैं, अस्मिता वस्तुत: मुखौटा है, जिन्हें पात्र या व्यक्ति धारण किए रहता है। दूसरा संदेश है अस्मिता कभी स्वाभाविक नहीं होती बल्कि वह सामाजिक निर्मिति है। अस्मिता की धुरी है– मनुष्य और मानवता। मुखौटे खोखले होते हैं,मनुष्य सारवान है। कर्ण के जितने भी मुखौटे हैं वे अप्रासंगिक हैं, कर्ण की मानवीयता महान् है।

अस्मिता का कोई न मित्र है न शत्रु। अस्मिता की सारी आपत्तियां 'अन्याय' के खिलाफ हैं। 'अन्याय' के खिलाफ जंग में सामाजिक लामबंदी का उपकरण है अस्मिता। सवाल यह है अंत में अस्मिता किस बिंदु पर पहुँचती है? क्या पुन: लौटकर अस्मिता की ओर लौटते हैं अथवा मानवता की ओर पहुँचते हैं। कर्ण के बहाने लेखक ने अपने कार्यकर्त्ता भाव का परिचय दिया है। वह पाठकों को सक्रिय करना चाहता है। इसी अर्थ में 'रश्मिरथी' राजनीतिक कार्रवाई है। लेखक बताना चाहता है अस्मिता मूलत: राजनीतिक मंशा की देन है। अस्मिता पर राजनीति के बिना चर्चा संभव नहीं है। अस्मिता में निहित व्यक्तिगत और सामाजिक इच्छाओं को अभिव्यक्त किया है।

अस्मिता विमर्श का इतिहास से गहरा संबंध है। इतिहास में जाए बिना इसका चित्रण और विवेचन संभव नहीं है। साथ ही अस्मिता हमेशा विकल्प को व्यक्त करती है। 'रश्मिरथी' में भी अस्मिता के विकल्प की तलाश की गयी है। जाति के इतिहास और विकल्प को बड़ी ही सुंदरता के साथ प्रस्तुत किया है। कर्ण की पहचान का आधार है– जाति संबंध। इसकी परिणति है– कर्ण की अपमानभरी त्रसद जिंदगी। लेखक का मुख्य लक्ष्य है– कर्ण,अर्जुन आदि पात्रों की अस्मिता की निरर्थकता को उद्धाटित करना। अस्मिता की पर्तों को खोलते-खोलते कर्ण को सामान्य मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित करने में लेखक को सफलता मिली है।

कर्ण सभ्य है, स्त्री और मित्रता का सम्मान करता है, संवेदनशील और उदार है। कर्ण के मानवता, दानवीरता, उदारता, मित्रता, संवेदनशीलता आदि गुणों की आज भी महत्ता है। कर्ण के अनुभव अन्य पात्रों के अनुभवों से भिन्ना हैं। पात्रों में अनुभवों की भिन्नाता स्वाभाविक चीज है। अस्वाभाविक है, इस भिन्नाता को छिपाना। जाति, धर्म, वैभव आदि को लेकर कर्ण की भिन्न राय है। वह परंपरागत सामाजिकता का निषेध करता है। वह अस्मिता संघर्ष के जरिए एक ओर अपनी पहचान बदलता है, दूसरी ओर अपनी आर्थिक अवस्था का अतिक्रमण करता है। कर्ण क्रमशः अवैध संतान, सूतपुत्र, वीर, राजा, कौरव सेनापति बना। कर्ण स्वनिर्मित,आत्मनिर्भर या सेल्फमेड है।

कर्ण मर्द है, वीरता पर गर्वित है, पुरूषार्थ उसकी संपदा है, पुरूषार्थ के बल पर भाग्य पर विजय हासिल करता है। पुरूष पात्र पुरूषार्थ जरिए भाग्य को पछाड़ते हैं। इसके विपरीत दिनकर ने कुंती के बहाने औरत की नियति का चित्रण किया है। स्त्री का अपने भवितव्य पर नियंत्रण नहीं होता। फलतः वह अपनी कहानी सेंसर करती है। वीरता के कारण कर्ण भाषा,संस्कृति और जाति की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। कर्ण के पक्षधर और विरोधी दोनों में उसकी वीरता निर्विवाद है। वह कौरवों को एकजुट रखने में सफल रहता है। वीरता के कारण कर्ण को महाभारत के अद्वितीय चरित्रों की कोटि में रखा जाता है। दुर्योधन का पांडवों के साथ युद्ध का फैसला बहुत कुछ कर्ण के ऊपर ही निर्भर था। महाभारत को अर्थपूर्ण बनाने में कर्ण की निर्णायक भूमिका है। कर्ण की सृष्टि के बिना महाभारत लिखा ही नहीं जाता। महाभारत में वीरों के वैभव का जो विराट रूप सामने आता है, उसकी धुरी है– कर्ण। कर्ण महाभारत के कथानक को बांधने वाला महत्वपूर्ण,निर्णायक और विवादास्पद पात्र है। महाभारत

में दो पात्र हैं, जो अस्मिता विमर्श के स्रोत हैं– पहला,द्रौपदी और दूसरा कर्ण। दोनों ही पितृसत्ता के लिए चुनौती हैं।

कर्ण पितृसत्ता को चुनौती देता है। पितृसत्ता के सांस्थानिक रूप जाति व्यवस्था की अमानवीयता को उद्‌धाटित करता है। दलित,राजा,मर्द,वीर आदि सब रूपों का अतिक्रमण करते हुए 'मित्रता' 'आत्मनिर्भरता' और 'प्रेम' के प्रतीक रूप में सामने आता है। किसी को कर्ण का जाति विमर्श अपील करता है,किसी को वीरता, उदारता,मित्रता और वचनबद्धता अपील करती है। कर्ण उन वर्गों और सामाजिक समूहों को प्रभावित करते हैं, जो अपना रूपान्तरण करना चाहते हैं। जो प्रतिवादी भावना के साथ सामाजिक विकास करना चाहते हैं। कर्ण की सबसे ज्यादा अपील वंचितों और दलितों में है। सबसे ज्यादा अपील उनमें है, जो वर्ग अपनी पहचान अथवा अस्मिता की तलाश में है। अस्मिता के प्रचलित मानकों का कर्ण अनुकरण नहीं करता। अस्मिता मानकों में निहित खोखलेपन को सामने लाता है।

जाति,लिंग,नस्ल,त्वचा,धर्म आदि पर आधारित अस्मिता की सीमित भूमिका होती है। अस्मिता का मूलाधार है– मानवता। मनुष्य ही प्रधान अस्मिता है। बाकी इसके मुखौटे हैं। कर्ण का संघर्ष मुखौटों के खिलाफ है। वह मुखौटे उतार फेंकता है। अस्मिता के मुखौटों में कर्ण का दम घुटता है। अस्मिता के मुखौटों को नष्ट करने के साथ कर्ण का उदारमना मानवीय मन सामने आता है। कर्ण की खूबी है– दूसरों के प्रति त्याग भावना। 'रश्मिरथी' में जिस युद्ध का वर्णन है यह मूलत: अस्मिता युद्ध है। यह अस्मिता संघर्ष में निहित आत्मघाती भावबोध की भी अभिव्यक्ति है। अस्मिता आमतौर पर स्वयं को नष्ट करती है।

'रश्मिरथी' कर्ण की आत्मकथा है। आत्मकथा में आत्म-स्वीकृति, आत्म-उद्‌धाटन और शिरकत का तत्त्व रहता है। आत्मकथा में वे चीजें बतायी जाती हैं जिन्हें लोग नहीं जानते। जो जानते हैं उसे आत्मकथा में नहीं चाहते। आत्मकथा के छह मूल तत्त्व हैं। इन तत्त्वों के आधार पर 'रश्मिरथी' का समग्र ताना-बाना टिका है।

आत्मकथा का पहला तत्त्व है– व्यक्तिगत अस्मिता और निर्वैयक्तिकता। कर्ण की कहानी व्यक्तिगत है, प्रस्तुति निर्वैयक्तिक है। कर्ण की निर्वैयक्तिक छवि निर्मित करने में भाषा प्रमुख कारक है। भाषा के जरिए कर्ण के प्रति ज्ञान में इजाफा होता है। रश्मिरथी' में कविता और कहानी दोनों के मिश्रित प्रयोग मिलते हैं। कर्ण की कथा और कविता मिलकर अस्मिता का बोध निर्मित करती

है। अस्मिता एक नहीं अनेकरूपा है। सर्जनात्मक संभावनाओं से भरी है। कर्ण की आत्मनिष्ठ छवि के सामाजिक आयाम पर जोर देने में लेखक को सफलता मिली है। दूसरी महत्वपूर्ण यह है कि अस्मिता का शरीर के साथ गहरा संबंध है। कर्ण के कवच-कुंडल और कर्ण के शरीर का अंत, 'रश्मिरथी' को उत्तर आधुनिक अस्मिता विमर्श में ले जाता है। टेरी इगिलटन के अनुसार 'उत्तर आधुनिक व्यक्ति की अस्मिता के साथ उसका शरीर अन्तर्ग्रथित है।'

आत्मकथा का दूसरा तत्त्व है उपस्थिति,वर्तमान और प्रस्तुति। रोलां बार्थ के शब्दों में आत्मकथा को उपन्यास के चरित्रों के माध्यम से व्यक्त होना चाहिए। 'रश्मिरथी' में कर्ण की आत्मकथा विभिन्ना चरित्रों के माध्यम से सामने आती है। आत्मकथा लिखते समय चिर-परिचित क्षेत्र हमेशा परेशान करते हैं। चिर-परिचित वातावरण समस्या पैदा करता है। चिर-परिचित यथार्थ है– भारत की जाति समस्या। जाति समस्या लेखक को परेशान और उत्तेजित दोनों ही करती है। जाति प्रथा को करीब से जानने के कारण लेखक को इसके बारे में सटीक वर्णन,विवरण और ब्यौरे तैयार करने में मदद मिली है। लेखक को जाति प्रथा की अनेक 'दरारें' नजर आती हैं। आत्मकथा में 'दरारों' की केन्द्रीय भूमिका होती है। 'दरारें' पुराने व्यक्तित्त्व की जगह नए व्यक्तित्त्व को सामने लाने का काम करती हैं। कर्ण की जाति पीड़ा जितनी बार व्यक्त हुई है उतनी ही बार कर्ण का नया रूप सामने आया है। पुराना कर्ण बदला है। लेखक कहीं पर भी कर्ण के पुराने रूप को स्थापित करने का प्रयास नहीं करता। हमेशा नए रूप को सामने लाता है। कर्ण पुराने रूप के साथ सामंजस्य बिठाने की बजाय 'दरारों' और 'अंतरालों' के बीच में से नए रूप में सामने आता है। रोलां बार्थ ने आत्मकथा के बारे में लिखा है– आत्मकथा में आप स्वयं को नहीं देखते बल्कि इमेज को देखते हैं। अपनी आंखों को नहीं देखते। आत्मकथा लेखन हमेशा विचलनभरा होता है। विचलन के ऊबड़ खाबड़ पैरामीटर सर्किल बनाते हैं। इन रास्तों से गुजरने के बाद एक ही संदेश संप्रेषित होता है कि जिंदगी अर्थपूर्ण है। आत्मकथा का केन्द्र बिंदु कौन सा है ? यह खोजने की जरूरत है।

आत्मकथा में विश्वास सबसे बड़ी चीज है। आस्था के साथ लिखी आत्मकथा इमेज बनाती है। आत्मकथा में चित्रण के लिए चित्रण नहीं होता बल्कि प्रस्तुति पर जोर रहता है। आत्मकथा चिर-परिचित यथार्थ की प्रस्तुति होती है। प्रस्तुति में अंतराल ज्यादा साफ नजर आते हैं। क्योंकि आत्मकथा में समग्रता के तत्त्व का पालन नहीं होता।

आत्मकथा में न्यूनतम अनुकरण, उद्‌धाटन, विवरण और आख्यान होता है। आत्मकथा में नामों का जिक्र और नामों के साथ जुड़े अनुभवों का वर्णन होता है। फलतः आत्मकथा के दायरे में अनेक मील के पत्थर और पैरामीटर होते हैं। आत्मकथा के रूप में यदि 'रश्मिरथी' को देखा जाए तो पाएंगे कि वहां भाषा ही आत्मकथा है। भाषा का संसार ही है जिसके कारण यह कृति अपील करती है। भाषा के माध्यम से ही कर्ण की विभिन्ना पर्तो को लेखक ने खोला है।

आत्मकथा में भाषा बहुत बड़ा आधार है। आत्मकथा की भाषा में प्रस्तुति 'मैं' के अंत की घोषणा है। 'मैं' संकेत मात्रा होकर रह जाता है। भाषा सामूहिक प्रयासों से बनती है। आत्मकथा के 'मैं' का राजनीतिक - दार्शनिक चीजों में लोप हो जाता है। भाषा विज्ञान में लोप हो जाता है। आत्मकथा में 'मैं' हमेशा घुला मिला होता है। आत्मकथा में जैसे 'तुम', 'वह', 'हम' होते हैं वैसे ही 'मैं' भी होता है। आत्मकथा में सब्जेक्ट और ऑब्जेक्ट दोनों एक हो जाते हैं। वक्ता और विषय एक हो जाते हैं।

आत्मकथा का तीसरा प्रमुख तत्त्व है– सुसंगत अनुभूति। दिनकर ने कर्ण के चरित्र को सामने लाकर पात्र के जीवन के तथ्यों को सीधे बगैर किसी लाग-लपेट के पेश किया है। आत्मकथा में तथ्यों को बगैर चासनी के पेश किया है। बगैर किसी कृत्रिमता के पेश किया है। तथ्यों को अकृत्रिम भाव से पेश करना आत्मकथा का उत्तर आधुनिक फिनोमिना है। उत्तर आधुनिक आत्मकथा में अनिश्चितता,विचलन आदि को सहज ही देख सकते हैं। इसमें भाषा और विमर्श प्रभावशाली होते हैं।

साहित्य में सत्य नहीं 'फिक्शन' होता है। साहित्य सत्य नहीं गल्प है। सत्य का आख्यान कभी गल्प के बिना नहीं बनता। 'रश्मिरथी' गल्प है। आत्मकथा में जीवन सुंदर और साफ-सुथरा दिखता है। वास्तव में वैसा नहीं होता, बल्कि बेहद जटिल और उलझनों से भरा होता है। आत्मकथा में जीवन का जो पैटर्न और संतुलन नजर आता है वह जीवन में नहीं होता। आत्मकथा हमेशा उन अनुभवों का प्रतिवाद करती है, जो हमारे इर्द-गिर्द होते हैं। अनुभवों के जरिए जीवन के सवाल उठाए जाते हैं। उन चीजों को शक्ल प्रदान की जाती है जिनकी कोई पहचान नहीं है। जो शक्लविहीन हैं। संवेदनात्मक तौर पर जिन्हें हम महसूस नहीं करते उन चीजों को अभिव्यक्त करने की कोशिश की जाती है।

उपन्यास,कविता,कहानी आदि सर्जनात्मक विधारूप में जब आत्मकथा लिखी जाती है तो उसमें कल्पनाशीलता की बड़ी भूमिका होती है।

कहानी,आत्मकथा,काव्य,सैद्धान्तिकी, वाद-विवाद आदि सबको 'इच्छा' में शरण लेनी होती है। अनुभव,संवेदना और शिक्षा को रूपान्तरित करने के लिए कल्पना का सहारा लिया जाता है। कल्पना में तयशुदा सीमाओं का अतिक्रमण होता है। आत्मकथा में संस्मरण के दाखिल होते ही कहानी तेजी से बदलती है। कर्ण के साथ कुंती और कृष्ण की मुलाकात कहानी को बुनियादी तौर पर बदल देती है। राजसभा में जब कर्ण के पिता और जाति का नाम पूछा जाता है तो कहानी में बदलाव आता है। कहानी शैली भी बदल जाती है। संस्मरणों के जरिए कहानी में आए बदलाव इस बात का संकेत हैं– लेखक सांस्कृतिक बाधाओं अथवा सांस्कृतिक टेबुओं का अतिक्रमण करना चाहता है।

कहानी की सीधे और प्रामाणिक प्रस्तुति का अर्थ है– संबंधित व्यक्ति ने अपनी निजी अनुभूति को विकसित कर लिया है। निजी अनुभूति के आधार पर सांस्कृतिक संदेहों का अतिक्रमण करता है। दिनकर ने 'रश्मिरथी' में जाति प्रथा संबंधी निजी अनुभूतियों के आधार पर कर्ण के जीवन में व्याप्त 'अन्याय' को उद्‌धाटित किया है। इसके ही आधार पर विमर्श की संरचनाओं और कर्ण की अस्मिता का निर्माण किया है। कहने का तात्पर्य यह कि अनुभूति,विमर्श संरचनाएं और अस्मिता के अन्तस्संबंध के आधार पर ही हमारी समझ,व्याख्या,प्रतिक्रिया,विचार आदि बनते हैं। समाज प्रदत्त विमर्श शैली और फ्रेम द्वारा अस्मिता निर्मित होती है और यह उसकी सीमा भी है।

दूसरी ओर लेखक कुछ चीजों को विमर्श में शामिल नहीं करता। उन पर पाबंदी लगाता है। आत्मकथा में सुचिंतित और सुनियोजित भाव से विमर्शों को चुनौती दी जाती है। फलतः आत्मकथा जोखिमभरा लेखन है। आत्मकथा में लेखक जो जोखिम उठाता है। उसमें वह आंतरिक सांस्कृतिक कोड का उद्‌धाटन करता है। ये सांस्कृतिक कोड जीवनानुभवों को देखने में मदद करते हैं। 'रश्मिरथी' की विषय-वस्तु महाकाव्य की कहानी है। उसे काव्य 'पाठ' के रूप में रूपान्तरित करके नए किस्म के विधा विमर्श को प्रस्तुत किया है।

दिनकर ने 'रश्मिरथी' में कर्ण की कहानी को व्यापक जाति विमर्श के कैनवास पर रखा है। सामाजिक भेद के व्यापक फलक पर कर्ण के चरित्र का विकास करने के कारण ही हमें पता चलता है कि जाति को लोग कैसे देख रहे हैं और किस तरह देखना चाहिए। साथ ही यह भी सीखने की जरूरत है कि आत्मकथा में निजी अनुभूतियों को कैसे व्यक्त करें। दिनकर ने बताया है कि कर्ण कैसा था, कर्ण की मूल समस्या क्या है, कर्ण से जुड़ा मूल विमर्श या

विवाद क्या है, उसे किस तरह देखें। कर्ण के कथानक के सबक क्या हैं और इस समूचे कथानक का हमारे सांस्कृतिक मानकों और सामाजिक कोड्स से क्या संबंध है और इनको कैसे बदलें ?

'रश्मिरथी' के प्रसंग में कहानी और अनुभव के अन्तस्संबंध के बारे में भी सवाल उठता है। कहानी में चीजें तय होती हैं। शक्ल,रूपरेखा और सीमा तय है। जबकि अनुभव अचानक व्यक्त होता है और दिख रही चीजों और तदनुरूप अनुभवों में घुल-मिल जाता है। कहानी को हमेशा सरल,विस्तृत विवरणों और भावनाओं के ज्वार से मुक्त होना चाहिए। कहानी में पैटर्न,प्लाट और अर्थ होता है। फलतः हम कहानी में प्रासंगिक अर्थ खोजते हैं। प्रासंगिक अर्थ के बिना कहानी लिखना संभव नहीं है। प्रत्येक कहानी में रूपान्तरण होता है। प्रत्येक कहानी परिवर्तन और विनिमय करती है। चयन चुनाव करती है। आत्मकथा में अतीत का सृजन नहीं होता बल्कि आत्म या स्वानुभूतियों का सृजन होता है। अतीत के अनुभवों को नए तरीके से व्यक्त किया जाता है।

आत्मकथा का चौथा तत्त्व है– संप्रेषण और सामूहिकता। लेखक का स्व किसी शून्य में निवास नहीं करता। आत्मकथा लिखते समय अन्य को तबाह करना, अन्य के नजरिए को तबाह करना लक्ष्य नहीं होता। जैसाकि इन दिनों अनेक लेखिकाओं की आत्मकथा में देखने को मिलता है। आत्मकथा का लक्ष्य अन्य को तबाह करके अपना स्थान बनाना नहीं है। विद्वतापूर्ण लेखन में अन्य के प्रति ज्यादा मानवीयता और सम्मान का भाव होता है। मैंने अनेक लेखकों की रचनाएं पढ़ी हैं, उनसे असहमत भी रहा हूँ। किंतु उनसे एक बात जरूर सीखी है कि हमें दूसरों की बात सम्मान के साथ सुननी चाहिए। लेखन सिर्फ संप्रेषण नहीं है बल्कि सामूहिकता का एक रूप भी है। यही वह जगह है जहां आप अन्य लेखकों को अपने पास पाते हैं। किसी भी लेखक के लेखन को खारिज करने के भाव से नहीं पढ़ा जाना चाहिए बल्कि स्वीकारने और गहरी जिज्ञासा के साथ पढ़ा जाना चाहिए। जिससे संवाद किया जा सके। लेखन कभी भी स्वयं के लिए नहीं होता अन्य के लिए होता है। दूसरों के लिए होता है। इसी अर्थ में लेखन सामूहिकता बोध पैदा करता है। सामूहिकता को अभिव्यक्त करता है। लेखन कहने के लिए 'स्व' से आरंभ होता है, किंतु 'स्व' के लिए नहीं होता, सबके लिए होता है।

आत्मकथा को 'आत्म' या 'निज' को हीन या महान बनाने या सहानुभूति जुटाने के औजार के तौर पर नहीं लिखा जाता। आत्मकथा आत्माभिव्यंजना की

खोज है। यह उनके साथ संवाद है, जो अन्य की बात सुनने के लिए सहमत हैं। प्रतिक्रिया व्यक्त करने को तैयार हैं। अपनी आत्मकथा खोज रहे हैं।

आत्म को व्यक्त करते समय व्यक्ति 'स्व' में कैद नहीं रहता। बल्कि अपने अलगाव और अज्ञान को दूर करने में आत्म की मदद लेता है। आत्मकथा का मकसद आत्म सत्य को बताना नहीं है। उसका मकसद है आत्मसत्य का खंडन करना। आत्म की बंद गलियों के बाहर आना और उन तमाम चीजों का खंडन करना जिनसे आत्म भिन्ना नजर आता है।

प्रत्येक कहानी में जाति गुण होते हैं। इनके बिना कहानी लिखी नहीं जाती। अथवा शुद्ध कहानी जैसी कोई चीज नहीं होती। कहानी हमेशा अर्थ से संचालित होती है। अर्थ के बिना कहानी नहीं होती। अर्थहीन कहानी महज घटनाक्रम है। कहानी में चार चीजें प्रमुख हैं– पहला है,कहानीपन। दूसरा, कैसे व्यक्त करते हैं। तीसरा,क्या शिक्षा देते हैं। चौथा कैसे आनंद प्राप्त करते हैं। ये चीजें अलग भी हो सकती हैं और किसी कहानी में एक साथ भी हो सकती हैं। कहानी में ऐसे बिंदु भी आते हैं जहां तथ्य और अनुभूति का मिलन होता है। आत्मकथा निश्चित रूप से व्यक्ति का आख्यान है,यह पेशेवर आत्मस्वीकृति है। यह मनुष्य की आत्मस्वीकृति है, जो कि हमेशा संप्रेषण और सामूहिकता की प्रक्रियाओं में रहता है। आत्मकथा का पांचवां तत्त्व है– छवि,काल्पनिक छवि और कल्पना। वाल्टर वूगीमैन के अनुसार– 'वैध ज्ञान की पद्धति कल्पना का अंत है,' कहानी में शब्द,भाषा और भाषण चेतना निर्मित करते हैं, यथार्थ परिभाषित करते हैं, कल्पना के जरिए रूढ़िबद्धता से अपने को मुक्त करते हैं, अन्य किस्म का व्यक्तित्त्व निर्मित करते हैं। कल्पना के जरिए ही सामाजिक-साहित्यिक रूढ़ियों को खारिज करने में मदद मिलती है। मनुष्य का रूपान्तरण होता है। यह रूपान्तरण सामंजस्य बिठाकर नहीं होता। कर्ण क्या है और कर्ण की क्या छवि बन रही है, इसकी प्रस्तुति के दौरान दिनकर ने कर्ण को कहीं से भी रूढ़िबद्ध रूप में चित्रित नहीं किया है। कर्ण को चित्रित करते हुए पूर्ण स्वतंत्रता और कल्पना का इस्तेमाल किया है। स्वतंत्रता और कल्पना के प्रयोग के कारण ही आत्मकथा ऊर्जा से भरी होती है। पढ़ने वालों के मन में ऊर्जा का संचार करती है। साहस और आस्था के साथ जोखिम उठाने की प्रेरणा देती है।

आत्मकथा का छठा तत्त्व है– विमर्श,उद्‌धाटन और समापन। आत्मकथा में आत्म को उद्‌धाटित करने के लिए साहस की जरूरत होती है। अनेक लेखकों में साहस का अभाव होता है। आत्मविश्वास और साहस के बिना आत्मकथा लिखना

संभव नहीं है। जो लेखन में जोखिम उठाते हैं और अपनी बात कहते हैं। वे अपना बोझ हल्का करते हैं साथ ही समाज को भी खुली हवा में सांस लेने का मौका देते हैं। आत्म के बहाने लेखक लंबे समय से बंद कमरों को खोलता है। आत्मकथा में उद्‌धाटित करते समय लेखक डरता है, डरता है कि कहीं पकड़ा न जाऊँ ? अन्य के सामने नंगे खड़े होने का डर रहता है। यह शर्म और डर कहां से आता है ? असल में जो बौनेपन के शिकार होते हैं वे शर्माते हैं, डरते हैं। औसत बुद्धि के लेखक शर्माते और डरते हैं। इनमें से ज्यादातर रूढ़ियों में जीते और तयशुदा मार्ग पर चलते हैं। 'क्लीचे' में जीते और बातें करते हैं।

मजेदार बात यह है– आत्मकथा में आत्म को बताना तो बहुत दूर की बात है। लोग कहां जा रहे हैं। यह तक साफतौर पर नहीं बताते। वे सामान्य सी चीज को बताने में डरते हैं, शरमाते हैं। उन्हें डर लगता है। यदि अपनी बात बता देंगे तो पता नहीं क्या हो जाएगा। अमूमन हमें न बताने की आदत है, छिपाने की आदत है। छिपाना हमारी प्रकृत्ति है। जो छिपाया जा रहा है, वह जितना महत्वपूर्ण है उतना ही वह भी महत्वपूर्ण है, जो बताया जा रहा है। आत्मकथा को लिखने का मकसद होता हैँ बंद अनुभूतियों को खोलना, छिपे हुए को सामने लाना, आत्मकथा के वातावरण को विभिन्ना परिप्रेक्ष्य में देखना, निष्कर्ष निकालने से बचना। निष्कर्ष आत्मकथा को बंदगली में ले जाते हैं।

आत्मकथा का मार्ग खुला होता है, उसे निष्कर्ष के बहाने बंद करना आत्मकथा विधा के मानकों की अवहेलना है। लेखक को इस बात से आंकना चाहिए कि आप कितना भूलते हैं और कितना क्षमा करते हैं। लेखन में अनुभवों की संभावनाओं का कभी अंत नहीं होता। कहानी में कुछ चुनते हैं और कुछ छिपाते हैं। क्या बताएं और क्या छिपाएं ? इसका फैसला कैसे करें ? किसी भी चीज को बताने के लिए कहानी का होना बेहद जरूरी है, कहानी के बिना कुछ भी कहना संभव नहीं है। यही वजह है दिनकर भी जब कर्ण पर लिखने गए तो उन्हें कहानी में कहने की कोशिश की है। दिनकर ने लिखा है– 'कथाकाव्य का आनंन्द खेतों में देशी पद्धति से जई उपजाने के आनन्द के समान है य यानी इस पद्धति से जई के दाने तो मिलते ही हैं, कुछ घास और भूसा भी हाथ आता है,कुछ लहलहाती हुई हरियाली देखने का भी सुख प्राप्त होता है और हल चलाने में जो मेहनत करनी पड़ती है,उससे कुछ तन्दुरूस्ती भी बनती है।'

2

हिंदी की पहली आत्मकथा

'अर्द्धकथानक' हिंदी भाषा की पहली आत्मकथा है। यह आत्मकथा सन् 1641 ई. में 'बनारसी दास जैन' द्वारा लिखी गई है। ये संवत् 1643 वि. में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने संवत 1698 वि. तक का अपना जीवन-वृत्त अपनी आत्मकथा में बहुत ही व्यवस्थित तरीके से प्रस्तुत किया है। इस संबंध में हिंदी साहित्य के मूर्धन्य इतिहासकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल की टिप्पणी उद्धरणीय है - 'ये जौनपुर के रहने वाले एक जैन जौहरी थे, जो आमेर में भी रहा करते थे। इनके पिता का नाम 'खड्गसेन' था। ये संवत् 1643 में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने संवत् 1698 तक का जीवन-वृत्त, 'अर्द्धकथानक' नामक ग्रंथ में दिया है। प्राचीन हिंदी साहित्य में यही एक आत्मचरित मिलता है, इससे इसका महत्व बहुत अधिक है।' इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने इसे निर्विवाद रूप से हिंदी साहित्य में आत्मकथा की विधा की पहली किताब मानते हुए इसका महत्व स्वीकार किया है। इतना ही नहीं आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में बनारसी दास जैन को फुटकल कवियों की सूची में अठारहवाँ स्थान दिया है और लगभग एक पृष्ठ खर्च किया है। उन्होंने इनकी तुलना हिंदी के प्रसिद्ध निर्गुण संत कवि सुंदरदास से की है और एक प्रौढ़ रचनाकार के रूप में इन्हें मान्यता प्रदान की है। इतना ही नहीं आचार्य शुक्ल ने बनारसीदास जैन की आत्मकथा में सूफी प्रेमाख्यानकों के मधुमालती और मृगावती के उल्लेख के आधार पर यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि पद्मावत के पूर्व 'मधुमालती' की अत्यधिक ख्याति थी - 'पद्मावत के पहले 'मधुमालती' की बहुत अधिक प्रसिद्धि थी। जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्मचरित्र में संवत् 1660 के आस-पास की अपनी

इश्कबाजी वाली जीवनचर्या का उल्लेख करते हुए लिखा है कि - उस समय में हाट-बाजार में जाना छोड़ घर में पड़े-पड़े 'मृगावती' और 'मधुमालती' नाम की पोथियाँ पढ़ा करता था–

तब घर में बैठे रहैं, नाहिन हाट बाजार।
मधुमालती, मृगावती, पोथी दोय उचार॥'

अपनी आत्मकथा लिखने एवं उसका 'अर्द्धकथानक' नाम रखने के पीछे, बनारसीदास जैन ने एक रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है, जिसमें वे लिखते हैं कि मनुष्य की आयु एक सौ दस वर्ष मानी जाती है और मैं अभी अपनी आधी आयु पूरी कर चुका हूँ, यानी पचपन वर्ष। उन्होंने निश्चय किया कि मैं अपनी आधी जिंदगी का सच लिख डालूँ, आगे की बात आगे समझी जाएगी। उन्होंने अपनी आत्मकथा में बहुत ही स्पष्ट रूप से अपने कुल, गोत्र, धर्म आदि का उल्लेख करते हुए इसके नामकरण के तर्क की भी चर्चा की है -

नजर आगरे में बसे, जैन धर्म श्रीमाल।
बानारसी बिहोलिया, अध्यातमी रसाल॥'
'ताके मनआई यहु बात। अपनौ चरित्र कहौं बिख्यात।
तब तिनि बरस पंच पचास। परमिति दसा कही मुख भास॥'
'आगे जो कछु होइगी और। तैसी समुझेंगे तिस ठौर॥
बरतमान नर आउ बखान। बरस एक सौ दस परवान॥'
'तातै अरध कथान यहु, बनारसी चरित्र।
दुष्ट जीव सुनि हँसहिंगे, कहहिं, सुनिहिंगे मित्र॥'

जैन कवि बनारसीदास को अपनी विख्यात कथा कहने का मन हुआ और तब उन्होंने व्यतीत जीवन का भोगा हुआ यथार्थ प्रकट कर दिया। उन्हें अपने जीवन के उतार-चढ़ाव, नफा-नुकसान, यश-अपयश आदि की कोई चिंता नहीं है। वे अपने जीवन की उपलब्धियों के प्रति आश्वस्त हैं। उन्हें किसी तरह का अपराध-बोध नहीं है, किंतु उन्हें इस बात का ज्ञान अवश्य था कि, मैं जो कुछ भी अपने बारे में प्रकाशन करूँगा, वह दुष्ट प्रकृति के लोगों के लिए हास्यास्पद होगा, लेकिन मित्रों या अच्छी प्रकृति के मनुष्यों के लिए यह प्रेरक, मार्गदर्शक और मूल्यवान होगा, इसमें उन्हें कोई संदेह नहीं था।

'अर्द्धकथानक' हिंदी की पहली आत्मकथा है, इसलिए इसका ऐतिहासिक महत्व तो अवश्य है, किंतु इसके साथ ही यह पुस्तक अद्‌भुत विशेषताओं से संपन्न है। यह पुस्तक आत्मकथा विधा के लिए सुनिश्चित सभी मानकों पर खरी

उतरती है। यदि यह कहा जाए कि 'अर्द्धकथानक' आत्मकथा का व्याकरण तैयार करती है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यहाँ इसकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक है। इनकी पहली और सबसे बड़ी खूबी है, 'सत्य' के स्वीकार का साहस। आत्मकथाकार ने प्रायः अपनी 'प्रेमचर्या' के उल्लेख किए हैं। उसने अपनी पिछली जिंदगी में की हुई आशिकबाजी के बारे में खुलकर बात रखी है और ऐसा असावधानी से किया गया नहीं लगता है, क्योंकि वे अक्सर अपनी इश्क-मिजाजी की बात लिखते हैं, बिना शर्म/संकोच के। यह बात हम सब मानेंगे कि आज भी 'प्रेम' के स्वीकार की बात या अपनी लंपटई की स्वीकृति आसान कदापि नहीं है। यह मसला, सीधे-सीधे व्यक्ति की निजता और उसकी छवि से जुड़ा हुआ है। ऐसा स्वीकार करने पर सामाजिक प्रतिष्ठा की हानि एकदम तय है, किंतु बनारसी दास ने स्पष्ट रूप से कहा है कि -

'तजि कुल कान लोक की लाज।
भयौ बनारसि आसिखबाज।'

कुल और लोक की मर्यादा त्याग कर बनारसीदास, 'आशिकी' करने लगे थे। उन्हें अपने इस काम पर किसी तरह का पश्चाताप नहीं था। उन्होंने अपनी युवावस्था में स्वयं के भटक जाने के चित्र उपस्थित किए हैं -

'कबहुँ आई सबद उर धरै। कबहूँ जाई आसिखी करैं।
पोथी एक बनाई नई। मित हजार दोहा-चौपई॥'

नई बनाई पोथी में बनारसीदास ने नवरसों में रचनाएँ की हैं, लेकिन इसमें अधिक बल 'शृंगार-वर्णन' पर ही था -

'तामै नवरस रचना लिखी। पै विसेस बरनन आसिखी।
ऐसे कुकवि बनारसी भए। मिथ्या ग्रंथ बनाए नए॥'

बनारसीदास की आत्मकथा में इस पोथी का स्पष्ट उल्लेख है, किंतु ज्यादा विस्तार नहीं है। हाँ, इतना तो जरूर ज्ञात होता है कि एक दिन स्वयं कवि ने गोमती नदी के ऊपर बने पुल से पुस्तक को नदी में फेंक दिया था।

आत्मकथाकार ने स्वयं के व्यतीत-जीवन के बेबाक चित्र खींचे हैं। यह बेबाकी, उन्हें विशिष्ट बनाती है। उन्होंने प्रायः अपनी लंपटता के उल्लेख किए हैं -

'कै पढ़ना के आसिखी, मगन दुहुँ रसमाहिं॥
खान-पान की सुध नहीं, रोजगार किछु नाहिं॥'

पढ़ाई (विद्या-व्यसन) और प्रेमचर्या ये दो कार्य मनपसंद थे, बनारसीदास को। इन व्यसनों में इस तरह तल्लीन होते थे कि खाने-पीने का भी ध्यान नहीं रख पाते थे और व्यवसाय तो चला ही नहीं पाते थे। इस स्थिति में वे अपने पिता के लिए भार स्वरूप हो गए थे।

कुसंगति और व्यसनों के परिणाम-स्वरूप बनारसीदास व्याधि-ग्रस्त हो गए थे और उनके पूरे शरीर में असंख्य फोड़े हो गए। स्थिति इतनी विकट हो गई थी कि कोई भी सगा-संबंधी साथ बैठकर खाना नहीं खाता था। शरीर से दुर्गंध आती थी। इस संबंध में आत्मकथाकार स्पष्ट रूप से लिखता है कि -

'मास एक जब भयो बितीत। पौष मास सित पखरितु सीत।
पूरब करम उदै संजोग। आकसमात बात कौ रोग॥
भयौ बनारसिदासतन कुष्ठ रूप सरबंग।
हाड़-हाड़ उपजी बिथा, केस रोम भुब-भंग॥
विस्फोटक अगनित भए, हस्त-चरन-चौरंग।
कोऊ नर साला-ससुर, भोजन करइ न संग॥'

खुशहाल जीवन भोगने के बावजूद अपनी खराब प्रवृत्तियों की वजह से आत्मकथाकार बनारसीदास जैन को लांछित और अपमानित होना पड़ा था। उन्होंने स्वयं लिखा है कि मेरी लंपटता दिनों-दिन बढ़ती जा रही थी, मैं लोगों (शुभचिंतकों) के समझाने पर भी अपनी खराब आदतों से बाज नहीं आ रहा था-

'फिरि पौसाल भानपै पढ़ै, आसिखबाजी दिन-दिन बढ़ै॥
काहू कह्यो न मानै कोई, जैसी गति, तैसी मति होय॥'

जैन कवि के पिता, उनके आचरण और असफल व्यापारिक जीवन से बहुत दुखी हैं। वे साफ-साफ इस असफलता के पीछे के भाव से आहत थे। अपने पिता की स्वयं के बारे में की गई प्रतिक्रिया को दर्ज करते हुए आत्मकथाकार ने साफ-साफ लिखा है कि -

'कहा हमारा सब थया, भया भिखारी पूत।
पूँजी खोई बेहया, गया बनज का सूत॥'

किसी भी व्यापारी पिता के लिए उसके संतान की व्यापार में घोर असफलता, उसके लिए बड़े सदमे से कम नहीं है। बनारसीदास अपनी व्यापारिक असफलता को छिपाकर, अपने महिमा मंडन का प्रयास कदापि नहीं करते हैं। बहुत बार वे अपनी असफलताओं की चर्चा खुलकर करते हैं। ऐसा नहीं

था कि वे अपने व्यवसाय में कम मेहनत करते थे, जिसके फलस्वरूप उन्हें मनोनुकूल परिणाम प्राप्त नहीं होते थे। उन्होंने एक जगह लिखा है कि –

'जो पाया सो खाया सर्ब, बाकी कछु न बांच्या दर्ब॥
करी मसक्कति गई अकाथ, कौड़ी एक न लागी हाथ॥'

बहुत कठिन परिश्रम भी उन्हें इच्छित लाभ नहीं दिला पाता था और उन्हें अपने जीवन में ढेरों आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

'अर्द्धकथानक' का महत्व सिर्फ हिंदी आत्मकथा की विधा की पहली पुस्तक होने से ही नहीं अपितु उसके महत्व के अन्य मूल्यवान कारण भी मौजूद हैं, जैसे 'अर्द्धकथानक' में सत्रहवीं शताब्दी के भारत के काफी बड़े भूभाग के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक वास्तविकताओं से संबद्ध ढेरों जानकारियाँ उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर प्रामाणिक इतिहास लिखा जा सकता है। मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि यह एक ऐसे व्यक्ति का 'जिंदगीनामा' है, जो आग्रहमुक्त होकर सब कुछ स्पष्ट रूप से दर्ज कर रहा था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ, इन तीन बादशाहों का राज्य, आत्मकथाकार ने स्वयं देखा था। बनारसीदास ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि– बादशाह की मौत हो जाने पर राज्य में अजीब सा भय व असुरक्षा का माहौल बन जाता था–

'संवत् सोलह सै बासठा। आयौ कातिक पावस नठा।
छत्रपति अकबर साहि जलाल। नगर आगरे कीनौं काल॥
आई खबर जौनपुर माह। प्रजा अनाथ भई बिनु नाह॥
पुरजन लोग भए भयभीत। हिरदे व्याकुलता मुख पीत॥'

अकबर की मृत्यु सन् 1605 ई. में होना, यह प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्य है। बनारसीदास ने इस असुरक्षा व भय के परिवेश को तब तक सक्रिय बताया है, जब तक नया बादशाह सत्ताशीन नहीं हो जाता है। अकबर की मृत्यु के बाद पैदा हुई परिस्थितियाँ (भय व असुरक्षा की) ज्यादा समय तक नहीं बनी रहीं। जैसे ही अकबर का पुत्र जहाँगीर सिंहासन पर विधिवत बैठा, उसी समय से शांति और सुव्यवस्था कायम हो गई –

'अकबर कौ नंदन बड़ौ, साहिब साहि सलेम।
नगर आगरे में तखत, बैठो अकबर जेम॥
नाउं धरायो नूरदीं, जहाँगीर सुल्तान।
फिरी दुहाई मुलक में, बरती जहँ-तहँ आन॥'

मुगल बादशाह जहाँगीर ने बाईस वर्षों तक राज्य किया था और उसकी काश्मीर से लौटते समय अकस्मात मृत्यु हो गई थी। यह प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्य है। यह आत्मकथा में उल्लिखित है –

'छत्रपति जहाँगीर दिल्लीस। कीनो राज बरस बाईस।
कान समीर के मारग बीच। आवत हुई अचानक मीच।।'

जहाँगीर की मृत्यु के कुछ समय बाद शाहजहाँ गद्दी पर बैठा और संपूर्ण ऐश्वर्य के साथ उसने दीर्घकाल तक शासन किया। इसे बनारसीदास ने अपनी आत्मकथा में गंभीरता से रेखांकित किया है –

मासि चार अंतर परवान। आयौ साहिजहाँ सुल्तान।
बैठ्यो तखत छत्र सिर तानि। चहूँ चक्क में फेरी आन।।
सोरह सै चौरासिए, तखत आगरे थान।
बैठ्यो नाम धराय प्रभु, साहिब साहि किरान।।'

आत्मकथा मध्यकालीन भारत में व्यापार की समृद्धि के स्पष्ट संकेतों से भरी पड़ी है। चूँकि आत्मकथाकार स्वयं व्यापारी है, इसलिए वह अपने बहाने तत्कालीन भारत के आर्थिक परिदृश्य के चित्र भी खींचता जाता है। आत्मकथा से भारत के व्यापारिक रूप से समृद्ध अनेक नगरों की जानकारियाँ मिलती हैं। जौनपुर, पटना, काशी, प्रयागपुर (इलाहाबाद), फतेहपुर, इटावा, आगरा, मेरठ, कोल (अलीगढ़), अयोध्या, मथुरा, खैराबाद, फिरोजाबाद, सांगानेर, सहिजादपुर, रोहतकपुर, दिल्ली आदि कुछ प्रमुख नगर हैं, जिनकी प्रायः व्यापार व उनकी भौतिक समृद्धि के संदर्भ में चर्चा हुई है। जौनपुर की खुशहाली का उल्लेख करते हुए, जैन कवि ने उसे बहुत समृद्ध बताया है, जहाँ ढेरों सराय बाजार और मंडियाँ थीं, जिनसे व्यापार सुगमता से होता था –

जहाँ बावन सराइ पुरकने। आसपास बावन परगने।।
नगर माँहि बावन बाजार। अरु बावन मंडई उदार।।'

मध्यकाल में जौनपुर अत्यंत विकसित एवं समृद्ध नगर था। यह बात इतिहास-सिद्ध है। बनारसीदास ने जौनपुर की आर्थिक समृद्धि की महिमा का गान करते हुए थोड़ी अधिक उदारता अवश्य बरत दी है, मसलन किसी नगर में 52 सराय, 52 परगनें, 52 बाजार व 52 मंडिया कुछ ज्यादा हैं। यहाँ आत्मकथाकार ने उत्साहाधिक्य दिखाया है, फिर भी उनके उल्लेख से यह तो अवश्य पता चलता है कि जौनपुर नगर काफी समृद्ध व व्यापार की दृष्टि से उन्नत रहा होगा।

संक्षेप में 'अर्द्धकथानक' हिंदी की पहली आत्मकथा होने के साथ ही साथ मध्यकालीन भारतीय इतिहास से संबंधित अनेक बहुमूल्य जानकारियों तथ्यों का समृद्ध कोष है। इसमें उपलब्ध प्रामाणिक सूचनाओं के आधार पर आसानी से मध्यकालीन भारतीय समाज के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि बनारसीदास जैन तटस्थ दृष्टि संपन्न, संवेदनशील एवं प्रखर बौद्धिक रचनाकार थे। उनका लेखन किसी प्रायोजित परियोजना का हिस्सा नहीं है, इसलिए इसका ऐतिहासिक महत्व भर नहीं है, बल्कि उससे कहीं बहुत अधिक है।

3

आत्मकथा साहित्य में स्त्री वेदना का स्वरूप

सामान्यत: पाठकों की रुचि कथासाहित्य से ज्यादा आत्मकथाओं में होती है,क्योंकि आत्मकथा से सत्य और प्रामाणिक अनुभवों की गूँज सुनाई देती है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दो अलग भारतीय भाषाओं में लिखी गई आत्मकथाएँ 'आमार जीब्न' (बाँग्ला) और 'आत्मचरितमु' (तेलुगू) का पाठ विश्लेषण क्यों अनिवार्य बन पड़ा है, इसका उत्तर स्त्री आत्मकथाओं की सैद्धांतिकी के व्यावहारिक पक्ष से संबद्ध है। आज पश्चिम और पूर्व दोनों जगहों पर लैंगिक अध्ययन-केन्द्रों, क्षेत्रीय एवं तुलनात्मक अध्ययन केन्द्रों में ऐसे टेक्स्ट की माँग जोर पकड़ चुकी है, जो बदलते शैक्षिक आग्रहों की पूर्ति कर सके। ऐसा 'टेक्स्ट' जो व्यक्ति और समाज के विविधमुखी अनुभवों को प्रामाणिकता में प्रस्तुत करे। स्त्री आत्मकथा-आलोचना के लिए जरूरी है कि आत्मकथाओं के 'टेक्स्ट' खोजे जाएँ, पुराने 'टेक्स्ट' का पुनर्पाठ किया जाए और परस्पर असम्बद्ध दिखने वाली कड़ियों को एक जगह रख कर देखा जाए।

'आत्मकथा' में संबंधों का परिविस्तार प्राय: रचनाकार, उसके आत्मीयों-संबंधियों तक ही सीमित होता है। फिर भी, जिन अनुभवों से समाज की छोटी-बड़ी अस्मिताओं के सामूहिक अनुभवों का निर्माण होता है, उनको देखने के लिए 'आत्मकथाएँ' महत्वपूर्ण होती हैं। विशेषकर स्त्री के आत्मकथ्य का विश्लेषण उसका समाज, पीड़ाएँ, चोटें, लिंगभेद, मनोसामाजिकी, भाषा

भंगिमाओं की विशिष्टता को सामने लाने में मदद करता है। बाँग्ला की पहली स्त्री आत्मकथा 'आमार जीबन' और तेलुगू की पहली स्त्री आत्मकथा 'आत्मचरितमु' के टेक्स्ट का विश्लेषण दो भिन्न प्रदेशों में, भारतीय नवजागरण के दो अलग पड़ावों पर समाज सुधार आंदोलनों की भूमिका, स्त्री की स्थिति, विशेषकर ब्राह्मण सवर्ण स्त्री, जो सतही तौर पर समृद्ध-तृप्त है और स्त्री रचनाकार की जीवन-यात्रा की अभिव्यक्ति, संस्कृति-दर्शन-आत्म के सामाजिक संदर्भ की प्रकृति और वर्गीय अध्ययन की दृष्टि से दिलचस्प हो सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शती के प्रथमांश में प्रकाशित भारतीय आत्मकथाओं के बरअक्स इन्हें रखने से एक पूरी विस्मृत साहित्यिक परम्परा हमारे सामने जीवन्त हो उठती है। ये आत्मकथाएँ व्यक्ति और समाज के बीच की दरारों को दिखाती हैं। ये दरारें काल और समय के साथ परंपरा और प्रचलन की, सत्य और तथ्य की, व्यवहार और विमर्श के बीच के अन्तराल को चिह्नित करती हैं।

स्त्री आत्मकथाओं ने इधर हाल के वर्षों में एक बड़ा पाठक-वर्ग तैयार किया है। भारतीय संदर्भ में, साहित्येतिहास के आधुनिक युग की पहली कही जाने वाली अलग-अलग भाषा में लिखी गई ये दो आत्मकथाएँ पढ़ते समय हमें पता लगता है कि कैसे सामाजिक अभ्यास अपनी पूरी तात्कालिकता और संपूर्णता के साथ एक उत्तेजक अनुभव में रूपांतरित हो जाते हैं और तब स्त्री का अनुभव सिर्फ एक व्यक्ति का अनुभव नहीं रह जाता। वह सामाजिक संस्था के अनुभव में रूपांतरित होकर सार्वभौमिक हो जाता है। बगैर कहे भी स्त्री का वक्तव्य राजनीतिक हो जाता है। ब्रिटिश औपनिवेशिक भारत की नव्य-पितृसत्तात्मक व्यवस्था से 'आमार जीबन' और 'आत्मचरितमु' अपनी-अपनी शक्ति सीमा में टकराती हैं। जॉर्ज गस्टोर्फ ने लिखा था - 'किसी ऐसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में जहाँ चेतन और आत्म अपने बारे में ठीक तरह से बात नहीं करते वहाँ आत्मकथा लेखन संभव नहीं।' (कंडीशनंस एंड लिमिट्स ऑफ ऑटोबायोग्राफी, जॉर्ज गस्टॉर्फ, 'ऑटोग्राफी–एस्सेज थियोरेटिकल एंड क्रिटिकल', जेम्स ओल्नी (सं.) में, पृ. 28)

आश्चर्यजनक रूप से भारतीय पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के औपनिवेशिक दौर में भिन्न-भिन्न भाषाओं को किसी तरह लिख-पढ़ सीख पाने वाली दो स्त्रियाँ, अलग-अलग कालखंडों में (बाँग्ला में राससुंदरी देवी सन 1868 और तेलुगू में सत्यवती की आत्मकथा सन 1934 में लिखी गई) अपनी कथा लिख रही हैं, दोनों स्त्रियाँ भारतीय सामाजिक वर्ण व्यवस्था की उच्चतम

श्रेणी से संबद्ध हैं, सवर्ण हैं, लेकिन स्त्री होने के कारण दलित भी। एमिली डिकिंसन ने कहा था – 'सच बोलो लेकिन थोड़ा-तिरछा करके। सीधे-सीधे सच बोलना भारी पड़ सकता है।' इसी को कृष्णा हठी सिंह ने अपनी आत्मकथा 'विद नो रिग्रेट्स' में अपनी भतीजियों को, प्रकारान्तर से स्त्रियों को, सलाह दी थी, 'तुम निःसहाय दिखाई पड़ो, लेकिन सक्षम रहो। तब प्रत्येक व्यक्ति तुम्हारी सहायता के लिए आगे बढ़ेगा और यदि कभी कोई तुम्हारी सहायता के लिए आगे नहीं भी आता, तो भी तुम अपनी देखभाल स्वयं कर सकती हो।'

सच को थोड़ा टेढ़ा करके बोलने की कला राससुंदरी देवी और सत्यवती को सीखने की आवश्यकता नहीं थी। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को अपने अस्तित्त्व की रक्षा के तमाम उपाय बचपन से ही घुट्टी में पिलाए जाते हैं। सुधा मजूमदार ने आत्मकथ्य में अपनी माँ द्वारा सिखाए मंत्र के हवाले से बताया है कि पिता स्वर्ग है, पिता ही धर्म है, पिता को प्रसन्न करने से परमपिता प्रसन्न रहते हैं।.. विवाह के बाद मंत्र वही रहता है, बस 'पिता' का स्थान 'पति' ले लेता है।

एक

राससुंदरी देवी की 'आमार जीबन' ('आमार जीबन' के पहले भाग का प्रारूप सन 1872 ई. में और दूसरा भाग 1901 में प्रकाश में आया। साहित्येतिहास में राससुंदरी की आत्मकथा के उल्लेख अथवा राससुंदरी देवी की जन्मतिथि का अभाव है।) को औपनिवेशिक भारत में सवर्ण स्त्री के बयान के रूप में देखा जाना चाहिए, जहाँ लड़कियों के विवाह की आयु 10-12 वर्ष थी। राससुंदरी देवी का जीवन और लेखन एक-दूसरे के लिए बहुत महत्व रखते हैं। वह 1813 में पबना जिले के पोतजिया ग्राम में पैदा हुई। बारह वर्ष की उम्र में विवाह और पच्चीस वर्ष की अवस्था तक वह बारह संतानों को जन्म दे चुकी थी। घर-परिवार की व्यस्तता और पारिवारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए चोरी-छिपे पढ़ना-लिखना सीख लिया और धार्मिक ग्रंथ पढ़ने लगीं – 'घर में कोई कागज पड़ा रहता था तो उसकी तरफ देखती भी नहीं थी कि कहीं लोग यह न कहें कि वह पढ़ रही है। प्रार्थना करती थी कि हे ईश्वर! मुझे पढ़ना सिखा दो।' रसोईघर में छुपा कर वह किसी तरह अक्षर मिला-मिला कर पढ़ती हैं, परिवार के सदस्यों को हर संभव तरीके से प्रसन्न रखने का प्रयास करती हैं। घरेलू व्यस्तता के कारण कभी-कभी भोजन भी नहीं खा पातीं, सम्पन्न ब्राह्मण परिवार

की बहू और बाद में 'गृहिणी' की उपाधि की कीमत कड़े परिश्रम से चुकाती है। वर्षों अपने मायके नहीं जा पातीं, यहाँ तक कि माँ के मरने पर भी, उनका जाना नहीं हो पाता – ''मैं अपने घूँघट के भीतर रो लेती थी और कोई जान नहीं पाता था।'' अपने जीवन के बारे में राससुंदरी लिखती हैं – ''पाँच-छह वर्षों तक कोई विशेष स्मृति नहीं है। जब मेरी उम्र सात या आठ हुई तो बुद्धि आनी शुरू हुई। बारह वर्ष की उम्र में विवाह हुआ, छह वर्षों तक नवेली दुल्हन रही। इसे चमत्कार ही कहेंगे कि मेरे शरीर से इतनी चीजें बाहर निकल आईं और मुझे उनके कारण के बारे में कुछ भी मालूम नहीं। धीरे-धीरे मैं बूढ़ी होती गई, मेरा शरीर झूलता गया, ढीला पड़ता गया। मेरा जन्म 1813 में हुआ 1872 में यह आत्मकथा प्रकाशित हुई। अब मैं 88 वर्ष की हुई, अचानक सब कुछ बदल गया, मेरा शरीर, मेरा दिमाग, आदतें – पहले से नितान्त विपरीत। इस बीच 1875 में मेरे कर्ता स्वर्ग सिधार गए। स्वर्णमुकुट मुझसे छिन गया। लेकिन मुझे इसका कोई पछतावा नहीं हैं, ईश्वर जैसे चाहे मुझे रखें।''

राससुंदरी देवी अपनी आत्मकथा में बार-बार ईश्वर की दयालुता, कृपालुता की चर्चा करती है। उन्हें बराबर इस बात का एहसास है कि उनका समाज, स्त्री का पढ़ना-लिखना सहज ही स्वीकार नहीं करेगा। इसलिए यदि अपनी जीवन कथा पर ईश्वर कृपा या पवित्र ग्रंथ का मुलम्मा जरूरी है, इसके अभाव में पाठक उनकी रचना को 'संभवत:' स्वीकार नहीं करेंगे। तत्कालीन बंगाली समाज में स्त्री की साक्षरता स्त्री के विपक्ष में समझी जाती थी। आशापूर्णा देवी की कथाकृति 'प्रथम प्रतिश्रुति' इसे बहुत अच्छी तरह अभिव्यक्त करती है। ईसाई मिशनरियों के सकारात्मक प्रयासों को रूढ़िवादी परिवार संदेह की दृष्टि से देखते थे। समाज के इस अतिवादी, दमनकारी रवैए की मुखालफत करना एक निहायत साधारण घरेलू स्त्री के लिए संभव नहीं था, ऐसे में राससुंदरी की आत्मकथा का प्रकाशन अदम्य साहसिक कार्य था। उन परिस्थितियों पर भी विचार किया जाना जरूरी है, जिनमें राससुंदरी देवी ने आत्मकथा को अभिव्यक्ति की विधा के रूप में चुनने का निर्णय लिया। ('आमार जीबन' से पहले के आत्मकथ्यों में तीन उल्लेखनीय हैं – देवेन्द्रनाथ ठाकुर (स्वरचित जीवन चरित), दीवान कार्तिकेयचंद्र (आत्मजीवन चरित) और राजनारायण बोस (आत्मचरित), जिसका अंग्रेजी में।द।बबवनदज वि डलेमर्स शीर्षक से अनुवाद हुआ। शारदासुन्दरी ने संस्मरण लिखे जो Tale to Myself शीर्षक से अनूदित हुए।

ध्यातव्य है कि ये सब प्रसिद्ध और विशिष्ट व्यक्तियों की श्रेणी में आते थे। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ब्रह्म समाज और सुधार आंदोलन में अगुआई के लिए, शारदा सुन्दरी देवी केशवचन्द्र सेन की माँ के रूप में, कार्तिकेय चंद्रसेन एक बड़ी रियासत के प्रबंधक और राजनारायण बसु प्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेता और लेखक के रूप में स्थापित थे। अन्त:साक्ष्य बताते हैं कि बाँग्ला में चैतन्य महाप्रभु की पहली जीवनी ''चैतन्य भागवत'' देखकर राससुंदरी में पढ़ने-लिखने की लालसा जगी। राससुंदरी ने जोड़-जोड़कर लिखना सीखा, इस पढ़ना-लिखना सीखने की यात्रा के दौरान कई कठिनाइयों का सामना किया, लेकिन चैतन्य के जीवन पर जितनी पुस्तकें एक समृद्ध परिवार में उपलब्ध हो सकती थीं, सबको पढ़ डाला। आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़ने का प्रभाव निश्चित रूप से उनके लेखन पर भी पड़ा। वह स्वयं को 'जिताक्षरा' कहती हैं - वह जिसने अक्षर की आत्मा को चीन्ह लिया हो। राससुंदरी देवी को लगता है कि कृष्ण और चैतन्य यानी आराध्य और भक्त जैसा संबंध ही उनका भी ईश्वरीय सत्ता से है और ईश्वर ने अन्यान्य कष्ट देकर उनकी भक्ति की परीक्षा की है। परंतु हिन्पुवादी शास्त्रीय अवधारणाएँ आत्मसात कर उन्हें अभिव्यक्त करना मात्रा, राससुंदरी का उद्देश्य नहीं है।

आत्मकथा को आध्यात्मिक बाना पहनाए जाने के बावजूद रचनाकार अपने जीवन संघर्ष में आस्था, जीवन शक्ति की खोज कैसे करती है, यह देखना महत्वपूर्ण है। अपनी पीढ़ी की पहली स्त्री रचनाकार 'आत्मचेतना' की अभिव्यक्ति के लिए कौन-सा औजार इस्तेमाल कर रही थी, जिसे गृहस्थी चलाने का साधन, परिश्रमी देह, अनन्त सन्तानसंभवा से परे कुछ न समझा गया हो, वह स्वयं को देह से परे और देह से ढँके मन की परतों को उघाड़कर देखने के लिए आमंत्रित करती है। परंपरा से आत्माभिव्यक्ति के जो भी माध्यम उसे उपलब्ध हैं - जैसे रोना, गाना, व्रत, पूजा, ईश्वरार्चन आदि, वह उन सब का अतिक्रमण और इस्तेमाल दोनों करती है। लिखना-पढ़ना उसका क्षेत्र नहीं, इसलिए परंपरागत भूमिका और छवि दोनों को बनाए रखते हुए उसके सामने आत्माभिव्यक्ति की चुनौती है। राससुंदरी की भाषा देखकर ऐसा नहीं लगता कि यह एक नवसाक्षर का प्रथम प्रयास है। अनुमान लगाया जा सकता है कि या तो उन्होंने लेखन का निरंतर अभ्यास किया था (हालाँकि उनके नाम से कोई और रचना हमें मिलती नहीं) या उनके लिखे हुए को बाद में चलकर किसी ने सँवार-सुधार दिया हो। कहीं-कहीं उनकी भाषा बिल्कुल बौद्धिक विमर्श या चिन्तन की मुद्रा लिए हुए है। ज्यादातर स्थलों पर 'आमार जीबन' की भाषा

तत्कालीन पुरुष रचनाकारों जैसी ही है। यह गौरतलब है कि बंगाल में पुरुषों की गद्य रचना और स्त्री लेखन में बहुत ज्यादा अन्तराल नहीं रहा। (बाँग्ला चरित साहित्य - 1801-1941, देवीपद भट्टाचार्य, कोलकाता, 1964, पृ0 79-81)

राससुंदरी ने आश्चर्यजनक रूप से आत्मकथा में सनसनीखेज प्रसंगों का जिक्र नहीं किया। स्वप्न-दर्शन, मृत्यु के पूर्व 'संज्ञान', पुत्रों का मृत्यु-शोक इत्यादि दृश्यों के अतिरिक्त आत्मकथा के पहले भाग में वे सिर्फ अपनी कथा कहती हैं - बचपन में एक भयातुर बच्ची, दस वर्ष की उम्र तक आते-आते प्रशंसा की इच्छा से गृहस्थी का समूचा कार्य सीख लेना, परिवार-संबंधियों में उनकी तारीफ, इन सबका जिक्र बार-बार आता है। दूसरे भाग की अपेक्षा पहले भाग में संवादधर्मिता ज्यादा है। साक्षर होने की घटनाओं की प्रस्तुति में तर्क और कौशल दोनों हैं। लेकिन ठीक इसी के बाद वे वैधव्य की घटना पर पहुँच जाती हैं। वृद्धावस्था, स्वप्न-श्रवण, पुत्र शोक, ईश्वरीय अनुरक्ति जैसे विविध प्रसंग संवेदना को घेर लेते हैं। ऐसा लगता है कि जिन घटनाओं की जरूरत थी, या जिन प्रसंगों को कहना सार्थक लगा, उन्हीं को ब्यौरेवार ढंग से लिखा गया है, शेष को यूँ ही निपटा दिया गया है। यहीं आकर 'आत्मकथा' का एकान्वित प्रभाव नष्ट हो जाता है। यहाँ से वे स्मृति के एक-एक परमाणु की शिनाख्त करती दिखाई देती हैं।

यहाँ घटनाओं और उनके भीतर छिपे अर्थ संदर्भ का पारस्परिक संबंध वि शृंखलित हो जाता है। छोटी-मोटी घटनाएँ उलझ-सी जाती हैं और जीवन के प्रति एक सामान्य-सी समझ रचनाकार की दृष्टि को आच्छादित कर लेती है। कई बार जीवन के आदि और अन्त का क्रम गड्-मड्ड दिखाई देता है। लेकिन इसे वृद्धावस्था के स्मृति-भ्रम के रूप में न देखकर नूतन परावर्तन के रूप में देखा जाना चाहिए। लिखना-पढ़ना सीखना राससुंदरी देवी के समूचे जीवन की चरम उपलब्धि है। साक्षर होते ही रचनाकार का विश्वास, उसकी बौद्धिकता, उसका परिश्रम और स्त्री होने की पीड़ा - सब संपृक्त हो जाते हैं। भविष्य बिल्कुल प्रत्यक्ष हो जाता है। लिखना सीखकर वह जीत गई है - जीवन के तमाम संघर्ष, बाधाएँ, दुख, अकथ वेदना पर, परिश्रम और लगन ने विजय पाई है। पाठ के भीतर छिपा रहस्य जैसे उजागर हो गया है। स्त्री जो कहना चाहती थी कह चुकी है - अब पाठ भी रिक्त हो गया है। रचनाकार का उद्देश्य पूरा हो गया है, अब जो कुछ बचा है वह घटनाओं का दुहराव भर है। जीवन के उत्तर पक्ष की घटनाओं का भौतिक पक्ष यहाँ गौण है। अब सिर्फ अर्थ विस्तार की आवश्यकता रह गई

है, जिसके लिए जीवन के किसी भी मोड़, किसी भी बिंदु, ईश्वरीय चरित्र के किसी प्रसंग से कोई भी उद्धरण दिया जा सकता है। अब वह अपना जीवन पूरी तरह ईश्वर को समर्पित करती हैं, कहीं-कहीं सामाजिक प्रथाओं, साक्ष्यों का विरोध भी करती हैं, समाज की रूढ़ प्रथाओं और दुखद परिणामों का उल्लेख भी करती है। इन सबके दौरान रचनाकार कई साहित्यिक विधाओं का इस्तेमाल करती है। संदर्भ, उद्धरणों के साथ-साथ कविता, कहानी, बहस कई विधाएँ साथ-साथ चलती हैं।

जैसे-जैसे पाठक आत्मकथा पढ़ता चलता है, यों लगता है कि एक आधुनिक सोच की रचनाकार ईश्वरीय सत्ता और आध्यात्मिक दर्शन की ओर उन्मुख होती जा रही है। कहीं लंबे आत्मालाप हैं, कहीं अत्यंत आत्मीय ढंग से पाठक को संबोधित करती हैं, कहीं-कहीं ईश्वर को सीधे-सीधे संबोधित करती हैं। पूरी आत्मकथा में इस सचेतनता के प्रमाण हैं कि रचनाकार मुद्रित माध्यम से अपनी बात पाठक के सामने पहुँचा रही है। कहीं-कहीं आत्मस्वीकार की मुद्रा भी दिखाई देती है। उसे पूरा एहसास है कि वह पहली स्त्री है, जो बांग्ला में 'आत्मकथा' लिख रही है। संयुक्त परिवार व्यवस्था जिसमें 'गृहिणी' देवी है या दासी। नहीं है तो केवल 'मनुष्य'। जूता सिलाई से लेकर चंडीपाठ के काम उसके पास हैं। नहीं है तो केवल 'समय' - कभी-कभी इतना भी नहीं कि वह भोजन कर सके। सब को खिला चुकने के बाद वह बच्चों को सुलाती है, उनके सो जाने के बाद भात की थाली खींचकर बैठती है तो बच्चा जग जाता है, पति का अनुशासन कड़ा है। स्त्री धर्म का तकाजा है कि पति की नींद में बच्चे के रुदन से खलल न पड़े। कुल की मर्यादा का दायित्व इतना है कि दाई-नौकरों के सामने वह भोजन नहीं कर सकती।

सवर्ण स्त्री के कष्ट की महागाथाएँ अनन्त हैं, पर मूक। वह 'कुलनारी' है - सामान्या नहीं। उससे जितने श्रम की अपेक्षा की जाती है - उतना श्रम वह कर पाई, यह 'ईश्वरीय चमत्कार' से कम है क्या! दो-दो दिन भूखी रहने पर भी वह स्वस्थ रह पाई, इसके पीछे 'ईश्वर कृपा' नहीं तो और क्या है? राससुंदरी का व्यंग्य-बोध यहाँ देखने लायक है। अन्त में राससुंदरी लिखती हैं, 'मैं चाहती हूँ पाठक इस सबको जाने।' प्रतिदिन प्रातः चार बजे से रात्रि बारह बजे तक निरन्तर श्रम किसी यातना से कम नहीं। श्रम में, सेवा में, कर्त्तव्य में कोई व्यतिक्रम नहीं, 'अच्छी बहू', 'कुलीन नारी' के विशेषणों से सुसज्जित स्त्री, यातना का स्मरण अपनी वृद्धावस्था में कर रही है - यातना का प्रत्याख्यान यातना

से कम नहीं इसलिए घरेलू जीवन की दिनचर्या के एकाध दिनों की चर्चा वह पर्याप्त समझती है। लिंगाधृत मानसिकता समाज के प्रत्येक वर्ग में स्त्री को पीड़ा और यातना के अनुभव देती है - यहीं पर 'कुलीन' स्त्री का आख्यान सामान्य स्त्री के आख्यान में बदल जाता है। वह कहीं-कहीं एकालाप करती है, जिसमें उसका आत्मविश्वास 'ईश्वर' के नाम से अभिव्यक्त होता है। अपना सुख-दुख ईश्वर को समर्पित कर देना एक ढंग से अपने एकाकीपन की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर वैष्णव धर्म में पाई जाने वाली दीनता का प्रभाव भी। ईश्वरीय सत्ता ही उसके निकट अपने किए हुए उचित-अनुचित के निर्णय की क्षमता से संपन्न है, कोई और नहीं।

'आमार जीबन' में राससुंदरी देवी एक ऐसी रचनाकार के रूप में उभरकर आती है, जिसकी एक स्वतंत्र और निजी सोच है - मन:संसार है। बचपन से ही उसका अपना संसार है, जिसके बारे में उसकी माँ भी नहीं जानती। माँ ने अनजाने में उसके पूरे व्यक्तित्त्व को भयाक्रांत कर दिया, उसने मन की बात कभी कही नहीं। विवाह के बाद अपरिचित घर, व्यक्ति, परिवेश का भय सबकुछ आँसुओं के रास्ते बहता है- उसके मन को समझने वाला कोई नहीं। यहाँ तक कि 'पति' से भी उसे डर लगता है, उन्हें वह 'कर्ता' कहकर सम्बोधित करती है, वह पति के घोड़े तक से भय खाती है। इतनी डरपोक स्त्री पढ़ना-लिखना सीखना चाहती है, बड़े-बुजुर्गों की नसीहत के खिलाफ। अपनी इच्छा के बल पर वह पुस्तकों के निषिद्ध जगत में प्रवेश कर जाती है, चुपचाप, जब कि उससे अपेक्षा की जाती है कि वह घर-गृहस्थी के जंजाल में खोई रहे और अपने जीवन को सार्थक समझे। ये उसका नितांत निजी चुनाव है, जिसमें कोई सहायक नहीं, स्वयं को देखने का, तलाशने का निजी नजरिया। पूरे जीवन में एक बार ही वह पति की अनुपस्थिति में एक कानूनी निर्णय लेती है, लेकिन प्रतिक्षण डरी हुई रहती है, 'कर्ता' क्या कहेंगे। चैतन्य भागवत का एक पन्ना चोरी से फाड़ लेती है, बचपन में सीखे अक्षरज्ञान की स्मृति को पुनरुज्जीवित करती है, यह सब करती है सबसे छुपकर। चूल्हे के पास वह पन्ना छुपा लेती है - घूँघट की ओट में अक्षर मिला कर पढ़ने का प्रयास करती है। पूरे समाज को शिक्षा देने वाले ब्राह्मण वर्ग की स्त्री की विवशता प्रत्यक्ष है। इस विवशता की शृंखला तोड़ने के लिए उसे अपने मानसिक क्षितिज का परिविस्तार करना होगा, यह तलाश उसकी अपनी है, बचपन में राससुंदरी को 'अच्छी लड़की' की उपाधि मिली क्योंकि वह खेल-कूद छोड़कर एक लाचार रिश्तेदार की सहायता

करने के क्रम में घर-गृहस्थी का काम सीख लेती है, बगैर जाने कि 'अच्छी लड़की' का तमगा उसके पैरों की बेड़ी बन जाएगा। वह लिखती हैं, ''इसके बाद मैं कभी खेल नहीं सकी, दिन-रात काम और बस काम।'' युवावस्था के प्रथम चरण में ही वह समझ जाती है कि अच्छी स्त्री और 'सद्गृहिणी' का खिताब कृत्रिम है। सुयोग्य गृहिणी बनने के बाद भी वह अपना स्थान परिवार में सुरक्षित नहीं कर पाएगी, इसमें संदेह है, क्योंकि स्त्री परिवार के लिए एक देह है, मर्यादा है, वंशबेल बढ़ाने का साधन, वह माँ है, जिसका 'अपना' कुछ भी नहीं - ''जब मैं अपने पिता के घर थी, तब तक मेरा एक नाम था जो बहुत पहले ही कहीं खो गया। अब मैं विपिन बिहारी सरकार, द्वारकानाथ सरकार, किशोरीलाल सरकार, प्रतापचंद्र सरकार और श्यामासुन्दरी की माँ हूँ। अब मैं सबकी माँ हूँ।''

राससुंदरी देवी जैसी अनेकानेक स्त्रियों को परिवार के खास साँचे में ढालने के लिए समाज अनेक औजारों का इस्तेमाल करता है - यह 'व्यक्ति' को 'टाइप' बनाने का प्रयास है, व्यक्ति के तौर पर इस मध्यवर्गीय स्त्री की निजी कोई पहचान नहीं। उसे 'देवी' बनाने की प्रक्रिया में समाज, गृहस्थी का हित है, लेकिन इस प्रक्रिया से गुजरना स्वयं 'स्त्री' के लिए कितना कष्टप्रद है, इसे इसी से समझा जा सकता है कि राससुंदरी देवी अपनी ससुराल को 'पिंजरे' की संज्ञा देती है - ''वह जीवन मेरे लिए किसी पिंजरे से कम न था - जीवन पर्यन्त अब मुझे इसी पिंजरे में रहना था। मुझे अपने परिवार से छीन लिया गया था, धीरे-धीरे, आहिस्ता-आहिस्ता मैं एक पालतू पक्षी बन गई।'' राससुंदरी देवी ने परिवारजनों, ससुरालवालों को, नए माहौल को स्वीकार तो कर लिया, लेकिन ससुरालवालों को उसने जो आदर और सम्मान दिया वह दबाव, प्रशिक्षण और आवश्यकता का परिणाम था। राससुंदरी ईश्वर को धन्यवाद देती है कि ईश्वर की कृपा से उसने सब कठिन परीक्षाएँ पास कर लीं जिससे उन्हें सुघड़ बहू, सुघड़ गृहिणी का खिताब मिला।

इस सब के बदले में उन्हें 'सिर्फ' अपना जीवन देना पड़ा। सिर्फ उनकी स्वतंत्रता उनसे छीन ली गई, यहाँ तक कि माँ के मरने पर भी उन्हें मायके जाने की इजाजत नहीं मिलती। यही कारण है कि जीवन के उत्तरार्द्ध में अपना अतीत उन्हें घृणा से भर देता है। राससुंदरी लिखती हैं - ''जब भी पीछे देखती हूँ, घृणा से मन भर जाता है, टशर की साड़ी, भारी जड़ाऊ जेवर, शंख, चूड़ियाँ, सिन्दूर सब परतंत्रता की बेड़ियाँ।'' राससुंदरी परम्परागत हिन्दू स्त्री के सुहाग चिह्नों की

निन्दा करती हैं। उन्हें गुलामी मानती हैं। उन्हें अपने पुरुष संबंधियों से बातचीत करने की आज्ञा नहीं, घर के बड़े-बूढ़ों से नीची आवाज में बात करने की आदत ऐसी हो जाती है कि आगे चलकर पति और युवा पुत्रों से भी डरती हैं। उनके कर्त्तव्यों का अन्त नहीं, बीमार सास की देखभाल, भोजन, बाल-बच्चों की सार-सँभाल, कुलदेवी की नित्य आडंबरपूर्ण पूजा का वृहत सरंजाम, घर में नित्य पच्चीस सदस्यों के लिए भोजन बनाना - उसपर समूची गृहस्थी का बोझ वो भी चौदह वर्ष की उम्र में। इन सभी उत्तरदायित्वों को पूरा करने में उन्होंने पूरी दक्षता दिखाई लेकिन स्वयं के लिए कोई समय नहीं निकाल सकीं।

राससुंदरी का कहना है कि यद्यपि उन्होंने पूरा जीवन अच्छी तरह कर्तव्य निभाए फिर भी मृत्युपरांत उन्हें 'आदर्श स्त्री' के रूप में उन्हें कोई याद करेगा, यह सुनिश्चित नहीं। राससुंदरी परंपरागत आदर्श हिन्दू स्त्री की छवि का विखण्डन करती हैं। जो कार्य उन्हें संवेदनात्मक तृप्ति नहीं देते जैसे भोजन पकाना, देवता-पूजन का नित्य आडंबर, इन्हें वह 'मजदूरी' की संज्ञा देती हैं। अट्ठारह से इकतालीस वर्ष के बीच उन्होंने चौदह बच्चों को जन्म दिया। लगभग एक साल के अंतराल से उन्होंने संतानोत्पत्ति की कुल तेईस वर्ष की अवधि में। संतान-प्रसव की यह दर उनके लिए प्राणलेवा हो सकती थी। ध्यातव्य है कि इन वर्षों में वह निरन्तर घरेलू श्रम (अनुत्पादक) में भी जुटी रही, जब तक कि पुत्रों का विवाह नहीं हो गया।

राससुंदरी आत्मकथा में जिन प्रसंगों का उल्लेख खास तौर पर करती हैं, वे हैं मुख्यतः पढ़ने-लिखने की इच्छा, गृहकार्य के दायित्व, और ईश्वरीय अनुकम्पा। पंद्रहवें अवतरण में अचानक याद आ जाता है कि अब तक पति के बारे में उन्होंने कुछ कहा नहीं है - ''मैं कह सकती हूँ कि वे एक अच्छे इंसान थे। कद्दावर थे, अपने मातहतों और किराएदारों के प्रति दयालु थे, अतिथि सत्कार करते थे। कानून मानने वाले थे। हमेशा मुकदमों में उलझे रहते थे। मैं अपने पति से डरती थी। वे नैतिक और कर्मशील थे।'' पूरी आत्मकथा में पति का जिक्र दो-तीन बार ही आया है। राससुंदरी का कहना है कि रात में बच्चे की रुलाई सुनकर 'कर्ता' नाराज हो जाते थे। एक प्रसंग ऐसा भी है जहाँ राससुंदरी पति के घोड़े के सामने से गुजरते हुए भी संकोच करती हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि पति के साथ स्त्री के संबंध राजा-प्रजा या शोषक-शोषित के दर्जे से बहुत बेहतर नहीं रहे होंगे। लेकिन उसी पति की मृत्यु की घटना को राससुंदरी 'स्वर्णमुकुट' का छिन जाना कहती हैं। विधवा स्त्री की सामाजिक स्थिति

दयनीय थी, समाज में विधवा पुनर्विवाह जैसी बातें आभिजात्यवंशीय परिवारों द्वारा स्वीकृत नहीं थीं। फिर भी, विधवा होकर जैसे राससुंदरी 'मुक्ति' का निश्वास लेती हैं। 'आमार जीबन' के दूसरे भाग में वे कहती है – ''मैं चौत्र मास 1813 में जन्मी और अब 1901 चल रहा है। अब 88 वर्ष की हूँ और उस ईश्वर का धन्यवाद करती हूँ जिसने इतनी लम्बी आयु मुझे प्रदान की।'' एक ओर वे वैधव्य भोग रही हैं, दूसरी ओर स्वयं को सौभाग्यशाली मानती हैं। उस समय के बंगाल में विधवाओं की स्थिति को देखते हुए राससुंदरी देवी का यह कथन आश्चर्यचकित करता है। लेकिन इसके पीछे कहीं न कहीं पारिवारिक गुलामी से मुक्ति का 'सौभाग्य' व्यंजित है, नहीं तो क्या कारण है कि आत्मकथा का पहला भाग उनके पति के मरने के ठीक बाद ही प्रकाशित हुआ।

आत्मकथा का दूसरा भाग ईश्वरीय लीला की चर्चा, कृष्ण और चैतन्य के विभिन्न अवतारों पर केन्द्रित है। राससुंदरी बार-बार ईश्वर को धन्यवाद देती है, जिसने जीवन के प्रत्येक क्षण में संकट से उबारा है। स्वयं को तुच्छ मानवी के रूप में घोषित करना और रचना-प्रेरणा के रूप में कृष्ण-चैतन्य का वर्णन करना ही प्रत्यक्ष है जहाँ पाठक रचनाकार को एक दार्शनिक मुद्रा में रूपांतरित होते हुए देखता है। सवाल यह है कि यदि कृष्ण और चैतन्य के लीला प्रसंगों और ईश्वरीय दयालुता का वर्णन करना राससुंदरी का अभीष्ट होता तो वे आत्मकथा जैसी नूतन और आधुनिक विधा का चुनाव क्यों करतीं? उन्नीसवीं सदि के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के आरंभिक दौर में स्त्री लेखन के साक्ष्यों में भक्ति-अध्यात्म और परम्परा से विद्रोह का अद्‌भुत सामंजस्य हमें दिखाई देता है। स्त्रियाँ अपनी-अपनी सीमाओं में नई संभावनाएँ तलाशती दिखती हैं, साथ ही ऊपरी तौर पर पितृसत्तात्मक समाज में गुलामी भी करती हैं। इस संदर्भ में दमयंती सेन की जीवनी के एक प्रसंग का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा जो एक ओर चोरी-छिपे पढ़ना सीख रही थीं और दूसरी ओर पति के चरण धोए पानी को रोज पीती थीं। इसी तरह प्रभावती देवी ने,जो पूर्णतः साक्षर थीं, एक दिन पाया कि देवी-देवताओं की तस्वीर की जगह उनके पति की तस्वीर रख दी गई थी। उनसे कहा गया कि वह अब से पति की तस्वीर की ही पूजा करे।

पढ़ना-लिखना सीख लेने वाली स्त्री पितृसत्तात्मक समाज में अपना अस्तित्त्व बनाए रखने के लिए एक नई 'रणनीति' विकसित करती दिखाई देती है – एक ओर स्त्री कर्त्तव्य, स्त्री धर्म, आत्मत्याग, समर्पण, आस्था और स्त्रियोचित मूल्यों की चर्चा बार-बार करती है, दूसरी ओर अब तक न कहा जा

सकने वाला सब कुछ कह भी दे रही है। राससुंदरी पूरी आत्मकथा में अपने जीवन को 'तुच्छ' कहती है और आत्मकथा का शीर्षक देती हैं – 'आमार जीबन' जो अपने महत्व की महाप्राण घोषणा करता प्रतीत होता है। दूसरी ओर लेखकीय विवशता का तकाजा ही है कि इसे 'ईश्वरीयलीलाख्यान' का जामा पहनाया जाए। इसके अभाव में तत्कालीन समाज में पाठकीय समर्थन मिलेगा क्या? यह रचनाकार की पहली और संभवत: अंतिम रचना है, एक साधारण सद्गृहस्थ स्त्री के जीवन में लेखन/प्रकाशन की रुचि क्यों होगी? कहीं न कहीं आध्यात्मिक आवरण की जरूरत है, ताकि पुस्तक बड़े पाठकीय वर्ग तक पहुँच सके। रचनाकार पाठकों के अभाव के खतरों के साथ-साथ सभ्य शिष्ट समाज के 'रिजेक्शन' से भली-भाँति वाकिफ है। आश्चर्य की बात है कि पूरे आत्मकथ्य में वृहत्तर वैश्विक परिदृश्य, ब्रिटिश शासन, राजनीति पर कोई टिप्पणी नहीं मिलती। इसके पीछे दो कारण हो सकते हैं – या तो रचनाकार समसामयिक विषयों पर टिप्पणी कर कोई खतरा मोल नहीं लेना चाहती अथवा गृहस्थी की व्यस्त दिनचर्या से समय निकालकर किसी तरह लेखन में रत है और ताजा समाचारों, अखबारों की दुनिया से नावाकिफ। सिर्फ अपनी कथा कहने से कृति की नीरसता के खतरे थे, इसलिए आत्मकथा को एक पवित्र ग्रंथ में तब्दील करने की कोशिश दिखाई देती है।

दो

तेलुगू की पहली स्त्री आत्मकथा का प्रकाशन 1934 में हुआ, जिसे एदिदमू सत्यवती ने 'आत्मचरितमु' शीर्षक दिया। औपनिवेशिक शासन के अनन्तर स्त्री लेखन के तेलुगू परिदृश्य को जानने की दृष्टि से 'आत्मचरितमु' महत्वपूर्ण है, जो एक लंबे समय तक विस्मृति के गर्भ में दबी रही। तेलुगू या स्त्री साहित्येतिहास में इसके उल्लेख का अभाव दिखाई देता है, जब कि तेलुगू में आत्मकथा लेखन की एक समृद्ध परम्परा रही है। वीरेशलिंगम की आत्मकथा क्रमश: 1911 और 1915 में (दो भागों में) प्रकाशित हुई वहीं लगभग अचर्चित राममोतला जगन्नाथ शास्त्री की आत्मकथा 'स्वचरितमु' 1916 में विशाखापत्तनम से छपी।

दरअसल जगन्नाथ शास्त्री की आत्मकथा से तेलुगू में आत्मकथा लेखन और प्रकाशन की प्रवृत्ति का प्रारंभ देखा जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में आत्मकथा लेखन की प्रवृत्ति ज्यादातर समाज सुधारक किस्म के लोगों में देखी

गई जैसे रायसमु वेंकटाशिवुडु का 'आत्मचरित्रमु' (1933, गुंटूर) जाने-माने वकील वल्लूरी सूर्यनारायणरावु सी. लक्ष्मीनरसिंहमू की 'स्वीयाचरित्रमु' (1944), टंगतुरी प्रकाशम, जो आंध्र के मुख्यमंत्री भी रहे, की आत्मकथा 'ना जीविता यात्रा' (मेरी जीवन यात्रा, 1946, मद्रास) प्रकाश में आई। इसके अतिरिक्त कई महत्वपूर्ण और साधारण रचनाकारों के आत्मकथांश, जिन्हें 'संस्मरण' की श्रेणी में रखा जाना बेहतर होगा, बीसवीं शताब्दी के मध्य और उत्तरार्द्ध तक प्रकाशित हुए, जिनमें बसवराजु राज्यलक्ष्म्मा की 'अप्पारावगारू - नेनु' (अप्पाराव जी और मैं) 1965 में विजयवाड़ा से छपी, अडविकोलानु पार्वती ने जेल के संस्मरण हैदराबाद से 1980 में 'ना जेलू नापकालु' शीर्षक से छपवाए। 1991 में हैदराबाद से ही मलाडी सुब्बम्मा का आत्मकथ्य 'पातिव्रतम् नुंडी' प्रकाशित हुआ। सरस्वती गोरा की 'गोरातो ना जीवितम्' (गोरा के साथ मेरा जीवन) सन 1992 में विजयवाड़ा से, उतुकुरी लक्ष्मीकांतम्मा की साहितिरुद्रम्मा (स्वीया चरिता) 1993 में छपी। भानुमति रामकृष्णा की नालोनेतु (1993, मद्रास) के अतिरिक्त 'मनकुतेलियनी मना चरित्र' (हमारा इतिहास जिसे हम स्वयं नहीं जानते), 1996 में हैदराबाद से छपी, जिसमें तेलंगाना के सशस्त्र आंदोलन में भाग लेने वाली स्त्रियों के साक्षात्कार संकलित हैं, जिसका प्रकाशन अंग्रेजी में के. ललिता के संपादकत्व में 'वी वर मेकिंग हिस्ट्री लाइफ स्टोरीज ऑफ वीमेन इन द तेलंगाना पीपुल्स स्ट्रगल' 1986 में दिल्ली से हुआ।

तेलुगू आत्मकथाओं की परंपरा को देखते हुए 'आत्मचरितमु' किसी स्त्री द्वारा रचित पहली और व्यवस्थित आत्मकथा सिद्ध होती है। सत्यवती ब्राह्मण परिवार की पुत्री और बहू थीं, जो यौवन में ही विधवा हो गईं। उनकी आत्मकथा का प्रथमांश जीवन की घटनाओं के साहित्यिक वर्णन से परिपूर्ण है, लेकिन उत्तरांश में वैधव्य के बाद धर्म, समाज, रूढ़ियों, ईश्वरीय सत्ता, अध्यात्म इत्यादि का अत्यन्त तर्कपूर्ण एवं विवेकसम्मत विश्लेषण मिलता है। तत्कालीन समाज की परिस्थितियों, बाल विवाह एवं स्त्री-शिक्षा की स्थिति को देखते हुए सत्यवती अपनी साहित्यिक एवं तर्क क्षमता से पाठक को चकित कर देती है। सत्यवती के नाम से सिर्फ 'आत्मचरितमु' ही मिलता है, जिसका अर्थ है कि सत्यवती ने आत्माभिव्यक्ति और समाज प्रत्यालोचन के लिए आत्मकथा को माध्यम बनाया। सत्यवती के जीवन के विषय में जानकारी का एकमात्रा स्रोत आत्मचरितम्' ही है, जिसमें उनके जन्म, विवाह, वैधव्य आदि की तिथियों का नितांत अभाव है।

'आत्मचरितम्' के पहले और दूसरे भाग में परस्पर तनाव दिखाई देता है - पहले भाग में साहित्यिक शैली में निजी वर्णन है, जबकि दूसरे भाग में सत्यवती की समाज, परम्परा, रूढ़ि, ईश्वर सम्बन्धी चिंताएँ एवं सरोकार व्यक्त हुई है। यहाँ सत्यवती विधवा होते हुए भी स्वयं को 'पतिव्रता' घोषित करते हुए लिंगभेद, विधवा स्त्री के प्रति समाज के रूढ़िबद्ध दुर्व्यवहार, पितृसत्तात्मक समाज और धर्म के नाम पर स्त्री के शोषण और दमन का प्रत्याख्यान करती है। स्वयं को 'पतिव्रता' कहना और साथ ही पतिव्रता धर्म की पोषक व्यवस्था की आलोचना करना तनाव की सृष्टि करता है। यह एक पतिव्रता की इच्छा और मुक्ति चाहने वाली स्त्री के बीच का तनाव है। सत्यवती बार-बार पतिव्रताओं की परंपरा को पुनरुज्जीवित करने की बात कहती है, दूसरी ओर पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री के दमन को लेकर चिंता भी व्यक्त करती है। सत्यवती का यह अंतविर्रोध 'आत्मचरितमु' के पुनर्पाठ की ओर प्रेरित करता है।

'आत्मचरितमु' के पहले भाग में सत्यवती ने अपने विवाह-प्रसंग का सविस्तार वर्णन किया है। अंत:साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि सत्यवती के माता-पिता अपेक्षाकृत खुले विचारों के थे। सत्यवती ने पाँच वर्ष की उम्र में बालिका विद्यालय जाना शुरू किया। दस वर्ष की अवस्था में वे गोदावरी जिले के 'कोरंगी' ग्राम में माता-पिता सहित एक संबंधी के उपनयन संस्कार में शामिल होने गईं। वहाँ तीसरे दर्जे में पढ़ने वाले 13 वर्षीय किशोर से पहली बार मंदिर-मंडप में मिलीं, जिससे बाद में उनका विवाह हुआ। सत्यवती ने पहली बार सीताराम्मैया से जो बातचीत की वह आत्मकथा में विस्तार से दी गई है -

लड़का - तुम किस गाँव से आई हो?
सत्यवती - मेरे पिता विजयवाड़ा में काम करते हैं।
लड़का - तुम्हारा नाम क्या है?
सत्यवती - सत्यवती
लड़का - तुम्हारे पिता क्या काम करते हैं?
सत्यवती - वे पी.डब्ल्यू.डी. में इंजीनियर हैं।
लड़का - तुम किस कक्षा में पढ़ती हो?
सत्यवती - चौथी कथा में।
लड़का - तुमने संगीत सीखा है क्या?
सत्यवती - नहीं।
लड़का - क्या तुम कोई गीत गा सकती हो?

सत्यवती - हाँ।

लड़का - फिर कोई गीत क्यों नहीं गाती?

सत्यवती ने गीत गाया और दोनों की बातचीत आगे बढ़ी।

लड़का - क्या तुम मुझे जानती हो?

सत्यवती - नहीं।

लड़का - क्या मुझसे विवाह करोगी?

सत्यवती ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया।

लड़का - तुमने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। तुम्हें कोई संकोच है या तुमने मुझे पसंद नहीं किया?

(सत्यवती ने आत्मकथा में लिखा है कि वह इतनी छोटी थी कि लड़के के सौंदर्य के बारे में किसी सुनिश्चित विचार तक पहुँच नहीं पा सकती थी। लेकिन बचपन से ही वह पतिव्रताओं की कहानियाँ सुनती चली आ रही थी। इसलिए उसने सोचा कि दैहिक सौंदर्य से ज्यादा यह महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति विशेष के जीवन-मूल्य क्या हैं।)

प्रत्यक्षत: सत्यवती ने कहा–नहीं, ऐसा कुछ नहीं।

लड़का - तो फिर तुम इतना संकोच क्यों कर रही हो?

सत्यवती - इसलिए कि यदि हम दोनों विवाह के लिए तैयार भी हों तो यह जरूरी नहीं कि हमारे अभिभावक भी इस बात पर सहमत हों।

लड़का - तुम्हारी क्या राय है ?

सत्यवती - मेरी राय महत्वपूर्ण नहीं है।

लड़का - देखो, यदि हम दोनों एक-दूसरे को पसन्द करते हैं तो हम विवाह के लिए कोई न कोई रास्ता निकाल सकते हैं।

सत्यवती - मुझे कुछ पता नहीं।

लड़का - हाँ, मैं समझ गया तुम क्या सोचती हो ? तुम्हें कुछ सुझाव दूँ। जब कोई लड़का तुम्हें विवाह के लिए देखने आए तो तुम ऐसा नाटक करना जैसे तुम्हें वह पसन्द नहीं आया। बाद में तुम्हारे माता-पिता तुमसे स्वयं ही पूछेंगे कि तुम हर रिश्ते को नापसन्द क्यों कर देती हो। मैं भी अपने घर में ऐसा ही करूँगा। कुछ दिनों के बाद हमारे माता-पिता के पास हमारा विवाह आपस में करा देने के अलावा कोई चारा नहीं रहेगा।

सत्यवती इस प्रस्ताव से सहमत थी, उसने अपनी अन्तरात्मा को साक्षी मानते हुए उस लड़के को विवाह का वचन दिया।

इस घटना के वक्त सत्यवती मात्रा दस वर्ष की थी। यह आश्चर्यजनक लगता है कि पतिव्रता और जीवन-मूल्य जैसे शब्दों का अर्थ तब भी वह समझती थी। यह भी हो सकता है कि सत्यवती ने, जिसने विधवा होने के बाद 'आत्मचरितमु' लिखा, अपनी परिपक्व समझ को बचपन पर आरोपित कर दिया हो। जो भी हो, सत्यवती के माता-पिता ने सत्यवती के ममेरे भाई से उसका विवाह तय कर दिया, लेकिन बाद में अधिक दहेज की माँग के कारण विवाह नहीं हुआ। सत्यवती ने अपनी रुचि के बारे में बताया और सीताराम्मैया के साथ उसका विवाह हो गया। विवाह के बाद सत्यवती बहुत दिनों तक ससुराल नहीं गई, क्योंकि उसकी उम्र बहुत कम थी। उधर सीताराम्मैया ने एम.ए. की परीक्षा पास कर ली। कुछ मुश्किलों के बाद उसे नौकरी मिली। गंजाम जिले में श्रीकाकुलम में सीताराम्मैया सबइंस्पेक्टर के तौर पर नियुक्त हुआ। छह महीने के भीतर ही उसे अचानक नौकरी से निकाल दिया गया। (सत्यवती 'आत्मचरितमु' में कहती हैं कि उन दोनों को ही सीताराम्मैया के नौकरी से निकाले जाने का कारण पता नहीं चला। सत्यवती का कहना है कि ईमानदारी की सजा उनके पति को मिली। स्थानीय निवासियों ने सीताराम्मैया को प्रोत्साहन दिया, जिसकी काव्यमय प्रस्तुति भूमिका के तुरन्त बाद दी गयी है। सत्यवती अपने पति को निर्दोष साबित करना चाहती हैं। बाद में, सीताराम्मैया ने मद्रास की अदालत में अपने निलंबन के आदेश के खिलाफ अर्जी दी और उसका निलंबन वापस ले लिया गया।)

बाद में, सीताराम्मैया की नियुक्ति दरीगबड़ी में हुई तो सत्यवती पति के साथ रहने के लिए आई। सत्यवती के पिता ने सत्यवती के साथ एक बुजुर्ग महिला को भेजा। लेकिन वह अधिक दिनों तक सत्यवती के साथ नहीं रह पाई। उन्हें घर की याद सताने लगी और वह लौट गई। सत्यवती ने अकेले ही घर की साज-सँभाल की। वह जगह सीताराम्मैया के स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं थी, उसे बीमारी में पालकी में लिटाकर डाक्टर के पास ले जाया गया। सत्यवती भी नई जगह पर बीमार रहने लगीं। सीताराम्मैया ने छुट्टी की दरख्वास्त दी। छुट्टी मिलने में बहुत देर हुई। इस बीच बीमारी की हालत में सीताराम्मैया की मृत्यु हो गई। सत्यवती ने आत्महत्या का प्रयास किया, लेकिन उन्हें वापस माता-पिता के पास भेज दिया गया। वैधव्य के बाद सत्यवती ने 'आत्मचरितमु' लिखा जो 60 पृष्ठों में 1934 में विजयवाड़ा, आंध्र प्रदेश से छपा। (सत्यवती ने फरवरी 1934 में अवनीगुड्डा, कृष्णा जिला, आंध्र प्रदेश, में रहकर अपनी पुस्तक आंध्र

प्रदेश के आन्ध्र ग्रंथालय प्रेस से छपवाई। के. कोंडाराम्मय्या का नाम उनके पिता के रूप में आता है, जो अवनीगुड्डा में रहते थे।) यह 'आत्मचरितमु' सत्यवती ने अपने मृत पति को समर्पित की। पति का आह्वान करते हुए सत्यवती ने लिखा कि पति ने ही उन्हें जीवन और जगत का व्यावहारिक ज्ञान कराया इसलिए यह पुस्तक उन्हीं को समर्पित है। पुस्तक के प्रारंभ में ही सत्यवती और सीताराम्मैया की अलग-अलग तस्वीरें छपी हैं। सत्यवती ने, पिता के मित्र दिवी नरसिंहाचार्यालु, जो विद्वान और पंडित थे, के प्रति भूमिका में आभार प्रकट किया है।

सत्यवती की भाषा और लालित्यपूर्ण शैली पाठक को चमत्कृत करती है। कथा प्रवाह और अलंकृत भाषा 'आत्मचरितमु' को समकालीन रचनाकारों से अलग और विशिष्ट पहचान देते हैं। सत्यवती अपने कथनों और वक्तव्यों को कई दूसरे विद्वानों के कथनांशों से पुष्ट करती चलती हैं। ऐसा लगता है कि उनकी साहित्यिक अभिरुचि का स्तर उत्कृष्ट है। उदाहरण के लिए, सत्यवती अपने प्रथम दृष्ट्या प्रेम-प्रसंग का वर्णन अत्यंत काव्यात्मक शैली में करती हैं। सीताराम्मैया के बारे में वे बताती हैं कि वह लंबा, बलिष्ठ, सुन्दर, चमकीली आँखों वाला किशोर था। जिस मंदिर-प्रांगण में उन दोनों की पहली मुलाकात हुई वह स्थल अत्यंत काव्यात्मक है। ग्राम-प्रान्तर की सुषमा मनमोहक है - 'गाँव के पूर्व में झरना है, झरने के किनारे पुराना प्रस्तर देवालय है, जिसकी दीवारों पर सुन्दर चित्र उकेरे हुए हैं। मंदिर की दक्षिण दिशा में ताजा पानी का सरोवर है और एक फूलों का उपवन जहाँ बैठकर मंदिर का सौंदर्य निहारा जा सकता है।' सीताराम्मैया से यहीं वह पहली बार मिली थी और उन्होंने भावी जीवन के स्वप्न बुने थे।

सत्यवती के शब्दों में, ''इस उपवन में मालती, पारिजात, मंदरम् के फूल खिले हैं, जिसकी सुवास वातावरण को पवित्र और मनमोहक बना रही है। वे दोनों एक फूलों की झाड़ी के बगल में बैठे। जैसे ही सीताराम्मैया ने उससे विवाह का प्रस्ताव किया, वह भविष्य की सुखद कल्पना में खो गई और उसे सावित्री और सत्यवान की कथा (सावित्री और सत्यवान की कथा 'महाभारत' के अरण्यपर्व में है।) स्मरण हो आई। उसकी अंतरात्मा से यह आवाज आई कि उसे सीताराम्मैया से ही विवाह करना है, उसी क्षण से सीताराम्मैया को उसने पति मान लिया, और अपना प्रण उसे बता भी दिया-''पश्चिम का यात्री समुद्र में विलीन होने से पहले इस पल का साक्षी बना। संध्या का आकाश, जो सुनहरी सूर्य किरणों से सुसज्जित है, देखकर ऐसा लगता है ज्यों पश्चिमी आकाश रूपी

युवती ने सुनहरी रेशमी साड़ी पहनी हो, गोधूली-वेला में बसेरों को लौटती चिड़ियों की चहचहाहट और कोयल की कूक ने पृष्ठभूमि को संगीतमय बना दिया है।''

सत्यवती के वृत्तांत प्रसंगानुरूप शैली बदलते हैं, उदाहरण के तौर पर सीताराम्मैया की मृत्यु का प्रसंग देखा जा सकता है। वह ईश्वर से प्रार्थना करती हुई लिखती हैं, ''हे प्रभु, मेरी विनती सुनो। इस सूने एकाकी वन में मेरा कोई नहीं। क्या सावित्री की प्रार्थना पर स्वयं यमराज चल कर नहीं आए थे? सत्यवान के प्राण क्या लौटाए नहीं उन्होंने? क्या तुम इतना -सा मेरे लिए नहीं कर सकते हो? हे ईश्वर, मेरी प्रार्थना पर तुम ध्यान क्यों नहीं देते? तुमने न जाने कितनी पतिव्रताओं की प्रार्थनाएँ सुनी होंगी और मनोकामनाएँ भी पूरी की होंगी। मेरे पति ने हमेशा न्याय और ईमानदारी का जीवन जिया। फिर तुमने उनको इतनी बड़ी सजा क्यों दी। उनकी जगह तुम मेरे प्राण ले सकते थे। लोग कहते हैं कि यह पूर्वजन्म के पापों का दंड है, तो तुम बताते क्यों नहीं हमें कि पूर्वजन्म में हमने कौन-से ऐसे पाप किए, जिनकी सजा हम अब भुगत रहे हैं। जब तक हमें अपने किए पापों का पता नहीं चलेगा, हम प्रायश्चित कैसे कर सकते हैं? तुम्हारी दयालुता का वर्णन पुराणों और महाभारत में है - क्या वह सब मिथ्या है? या फिर तुम मेरे धैर्य की परीक्षा लेना चाहते हो? जितने कष्ट इस जीवन में मैं भुगत चुकी हूँ क्या वे पर्याप्त नहीं है?''

सीताराम्मैया के दाह-संस्कार के प्रसंग में सत्यवती कहती हैं - ''मैं अपने पति को नहीं जाने दूँगी। मैं सावित्री की तरह अपने पति के प्राण वापस लौटा ले आऊँगी अन्यथा सती हो जाऊँगी।'' वहाँ उपस्थित लोगों ने कहा-"तुम अभी अल्पवयस्क और अनुभवहीन हो, तुम्हारे अभिभावक भी तुम्हारे साथ नहीं? क्या इस कलियुग में कोई सत्यवान की तरह वापस आया है? क्या हमने कलियुग में ऐसी कोई कथा सुनी है? यदि तुम पति की चिता के साथ सती होना चाहोगी भी तो क्या सरकारी कानून तुम्हें सती होने देगा? क्या हमारे शास्त्रों में आत्महत्या को सही कहा गया है?" अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं - ''ईश्वर ने मुझे धोखा दिया, मुझे पति के साथ नहीं जाने दिया। फिर भी मेरी आस्था और विश्वास अपने पति में कायम है। मैं हमेशा उनकी छवि की उपासना करूँगी। मुझे पूरा विश्वास है कि अगले जन्म में हमारा पुनर्मिलन होगा। अब भी विश्वास है कि ईश्वर मुझ पर अवश्य कृपा करेंगे, मैं 'पातिव्रत्य' को भारत में पुनर्जीवित कर सकूँगी। इन दिनों 'पातिव्रत्य' का भारतवर्ष में लोप हो गया है। यदि ऐसा

नहीं हुआ तो मैं अपना जीवन पति की स्मृति में त्याग दूँगी और पति के साथ मोक्ष प्राप्ति करूँगी।''

सत्यवती के 'आत्मचरितमु' का पहला भाग सतही तौर पर तथ्यों की जगह भावों को प्रधानता देता है। लालित्यपूर्ण गद्य का प्रयोग, प्रसंगानुकूल भाषा का चुनाव पाठक को आकर्षित और चमत्कृत करता है। आत्मकथा का दूसरा भाग पहले भाग से बिल्कुल अलग है। इस भाग में सत्यवती के जीवन की कोई घटना, कोई प्रसंग नहीं मिलता। वैधव्य ग्रहण कर पिता के घर लौट आने के बाद वे वैश्विक दृष्टि की अभिव्यक्ति करती है। स्त्री जीवन, लैंगिक विभेद, जीवन-ईश्वर संबंधी प्रसंग आदि इस दूसरे भाग में अभिव्यक्त है। इस भाग को पूर्णत: विच्छिन्न या स्वतंत्र रूप से एक स्त्री के बौद्धिक विमर्श के रूप में पढ़ा-सुना जा सकता है। यहाँ सत्यवती की विश्वदृष्टि को विभिन्न उपशीर्षकों के अन्तर्गत देखा जा सकता है - जैसे, पतिव्रता स्त्री, पातिव्रत्य धर्म, हरिकथा गायन, विधवाएँ, बाल विवाह और विधवा विवाह, ईश्वरीय सत्ता का खेल, सृजन प्रश्न, ईश्वरीय सत्ता, मृत्युभोज आदि। इनमें से कुछ प्रसंगों का पुनर्पाठ दिलचस्प होगा।

समकालीन तेलुगू समाज, नवजागरण के सुधारवादियों के प्रयासों के व्यावहारिक पक्ष, भारतीय समाज में विधवा का जीवन जीने के लिए बाध्य स्त्री के प्रश्नों/प्रतिप्रश्नों के ब्याज से नव्यपितृसत्ताक व्यवस्था का प्रतिपक्ष भी इसमें अभिव्यक्त है। (द नेशन एण्ड इट्स फ्रेगमेंट्स-कोलोनियल एवं पोस्टकोलोनियल हिस्टरीज, प्रिंस्टन, 1993) 'आत्मचरितमु' के उत्तरांश में अनेक ऐसे तीक्ष्ण और भेदक प्रसंग हैं, जो समाज की चली आती हुई मान्यताओं पर प्रहार करते हैं। निम्नलिखित प्रसंगों को सत्यवती ने प्रमुख रूप से विवेचित किया है -

1. पतिव्रता - सत्यवती ने 'पतिव्रता धर्म' की चर्चा बार-बार की है - ''कलियुग से पहले ईश्वर पतिव्रताओं के सम्मुख स्वयं उपस्थित होते थे और उनके पतियों को पुनर्जीवन देते थे। अब यह नहीं होता। इसलिए स्त्रियों ने पतियों के शव के साथ सती होना शुरू कर दिया है। सती प्रथा भी अब खत्म हो गई क्योंकि स्त्रियाँ मरने से डरती हैं। लेकिन यदि पति के मरने के बाद स्त्रियाँ जीवित न रहें, तो अच्छा ही है, ताकि वे विधवा का अभिशप्त जीवन जीने से बच जाए।''

2. हरिकथा गायक - सत्यवती ने हरिकथा गायक को 'कौतुक' कहा है। उनका कहना है, "हरिकथा गायन परम्परा में सबसे पहले 'गणपति वंदना'

होती है, इसके तुरन्त बाद वे स्त्री निन्दा करने लगते हैं। गायन में वे कहते हैं कि कलियुग में कोई 'स्त्री' पतिव्रता नहीं होती। हरिकथा गायक 'पुरुषों' की निन्दा नहीं करते। क्या सभी पुरुष एकपत्नीव्रत का पालन करते हैं? क्या हरिकथा गायकों ने पूरा संसार छान मारा है और तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि समूचा कलिकाल पतिव्रताविहीन हो गया है? (ताराबाई शिन्दे ने 'स्त्री-पुरुष तुलना' में लिखा है - ''पुरुष पतिव्रत धर्म के बारे में इतना हल्ला क्यों मचाते हैं जबकि वे दूसरों के घर-परिवार बर्बाद करते हैं (पृ0 114)। पतिव्रत धर्म का पालन न करने के लिए स्त्रियों को दोषी ठहराने की प्रवृत्ति के खिलाफ ताराबाई ने उलट कर पुरुषों की नैतिकता पर सवाल खड़ा किया। स्त्रियों को बहला-फुसला कर उनसे व्यभिचार करने वाले, फिर उन्हें त्याग देने वाले पुरुषों को अदालत कोई सजा क्यों नहीं देती? ताराबाई इस कानून से वाकिफ नजर आती हैं कि बिना गवाही के व्यभिचारी को सजा नहीं मिल सकती और ऐसे मामलों में अक्सर गवाही मिलनी मुश्किल होती है। इस अंजाम के लिए ताराबाई अंग्रेज सरकार को भी जिम्मेदार ठहराती हैं। वे सुझाती हैं कि जैसे सरकार रिश्वत लेने और देने वाले, दोनों को सजा देती है, उसी तरह व्यभिचार के मामले में भी स्त्री-पुरुष दोनों को सजा मिलनी चाहिए - स्त्री से दुगुनी सजा उस पुरुष को मिलनी चाहिए, जिसने व्यभिचार का जाल बिछाया।'' - स्त्री-पुरुष तुलना, ताराबाई शिन्दे, अनु. डॉ. राजम नटराजन पिल्लै।) प्राचीन और आधुनिक दोनों कालों में सब प्रकार के स्त्री-पुरुष मिलते हैं - अच्छे भी और बुरे भी। आज भी बहुत-सी पतिव्रताएँ हैं और यदि मान भी लें कि वास्तव में स्त्रियों में पातिव्रत्य धर्म का लोप हो गया है तो उन्हें कौन बताएगा कि उनके लिए 'सन्मार्ग' क्या है - वे कैसे सन्मार्ग पर चल सकती हैं। गांधी जी लोगों के सोचने का तरीका और विचार दोनों को बदलने की चेष्टा कर रहे हैं, वे भी तो सिर्फ कुप्रथाओं की आलोचना करके सन्तुष्ट हो सकते थे!"

3. विधवाएँ - सवर्ण जातियों में विधवाओं के प्रति सामाजिक अपमान और प्रताड़ना की कोई सीमा नहीं है - विशेषकर ब्राह्मणों में-"स्त्री का विधवा होना जैसे दंडनीय अपराध है, उसके केश मूँड़ दिए जाते हैं। व्रत-उपवास से उसका शरीर कमजोर कर दिया जाता है। विचार की क्षमता को कुंद करने के लिए हमेशा शुभ कार्यों से उन्हें दूर रखा जाता है। घर का सारा काम करने के बावजूद कोने में बैठे रहना उनके लिए बाध्यता है। जीवन के सभी सुखों से उन्हें वंचित कर दिया जाता है। सबसे बुरा तो यह है कि

उन्हें पुरुष की छाया से भी बचाया जाता है। यदि यह बात है तो नाई - जो उनके केश छीलता है - वह भी तो पुरुष है।" सत्यवती ने विधवा केश-मुंडन पर जो विचार व्यक्त किए हैं, ठीक वैसे ही विचार पार्वती अठवले ने भी व्यक्त किए हैं। 'मेरी कहानी' में पार्वती ने लिखा है, ''मैंने बहुत जोर दिया कि विधवा स्त्रियों का मुण्डन नाई न करें बल्कि परिवार का ही कोई सदस्य जैसे भाई या पिता करे। लेकिन स्वयं विधवाओं ने ही इसका विरोध किया। उन्हें लगता है कि इससे पति-पुत्र का अमंगल होगा।" (हिन्दू विडो–एन ऑटोबायोग्राफी - पार्वती अठवले, अनु. रेवरेंड जस्टिन ई एबोट, 1986 संस्करण, रिलायंस पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली)

सत्यवती ने विधवा स्त्रियों की वेशभूषा पर टिप्पणी करते हुए कहा है, ''अगर कोई विधवा स्त्री ब्लाउज पहनकर भोजन पकाती है तो पुरुष वह भोजन खाने से इनकार कर देते हैं। लेकिन जब कोई मेहमान आता है तो उनसे पर्दा करने के लिए कहा जाता है, वे घर से बाहर नहीं निकल सकतीं - कम से कम पति की मृत्यु के एक वर्ष बाद तक। उन्हें दिन में चार बार स्नान और भूमिशयन करना पड़ता है। यदि पूछा जाए कि स्त्रियों को ये दण्ड क्यों भुगतना पड़ता है तो उत्तर मिलता है कि नियोजित एवं मारक दिनचर्या से वे अपनी कामवासना और शारीरिक आवेगों को नियंत्रित रख सकती हैं। मेरे विचार से यह तर्क अत्यन्त हास्यास्पद है। आत्मनियंत्रण के लिए अच्छे विचारों की आवश्यकता होती है, शरीर धोने से आत्मशुद्धि नहीं हो सकती।" ताराबाई शिन्दे ने भी कुछ ऐसा ही कहा है। उनके अनुसार ''स्त्रियों के माथे का कुंकुम और माँग का सिन्दूर पोंछ देने, चूड़ी तोड़ देने, केश छील देने से, उन्हें कुरूप और अप्रस्तुत्य बनाने से स्त्री धर्म को बचाया जा सकता है क्या? यदि उनकी अंतरात्मा और विचार नहीं बदले तो बाहर का यह सारा कर्मकाण्ड व्यर्थ है। एक स्त्री के सौभाग्य चिह्न छीन लेने से उसकी अन्तरात्मा आहत हो जाती है, उसके भीतर एक सामान्य मनुष्योचित अच्छे और बुरे विचारों का वास रहता है। तुम उसके शरीर को कुरूप बना सकते हो, उसे ढँक-छुपा सकते हो, लेकिन उसकी अन्तरात्मा का तुम क्या करोगे? (स्त्री पुरुष तुलना, ताराबाई शिन्दे, अनु. डॉ. राजम नटराजन पिल्लै) वस्तुतः विधवा स्त्रियों का समाज में रहना पुरुषों की व्यभिचार-वृत्ति के लिए अनिवार्य था। विधवा स्त्रियाँ आचार-विचार का पालन करती थीं और पुरुष उन्हें अवैध संबंधों के लिए इस्तेमाल करते थे। केशमुंडन जैसे कृत्यों को स्त्री के बधियाकरण और स्त्रीत्वहीन बनाने के प्रयास के रूप में देखा जाना चाहिए।

(रीराइटिंग हिस्ट्री - द लाइफ एंड टाइम्स ऑफ पंडिता रमाबाई, उमा चक्रवर्ती, नई दिल्ली, 1998, पृ. 270-271)

4 . बाल विवाह एवं विधवा विवाह - सत्यवती ने आत्मकथा में बाल विवाह एवं विधवा पुनर्विवाह तथा अनमेल विवाह पर जो विचार व्यक्त किए हैं, उन पर नवजागरण की समाज सुधारवादी दृष्टि का प्रभाव साफ दिखाई देता है। 'आत्मचरितमु' 1934 में प्रकाशित हुआ, उससे पहले गुरजड़ा अप्पाराव (1861-1915) ने 'कन्याशुल्कम्' शीर्षक कृति में कन्या विक्रय एवं दहेज प्रथा की घनघोर निंदा की थी। सत्यवती इस विषय में लिखती हैं - दहेज लेने और कन्याविक्रय जैसे कुप्रथाएँ हमारे समाज में प्रबल हैं। धनलोलुप अभिभावक अपनी अल्पव्यस्क लड़कियों का विवाह उम्रदराज पुरुषों से कर देते हैं। ऐसे में स्वाभाविक तौर पर लड़की बहुत कम उम्र में विधवा हो जाती है। हमारे देश में विधवा समस्या के मूल में बाल विवाह है। कुंदुकुरी वीरेशलिंगम् बाल विधवाओं की शोचनीय दशा न देख सके और उन्होंने विधवा पुनर्विवाह पर बल दिया। विधवाओं का पुनर्विवाह अवैध यौन संबंधों को पनपने से रोकने का बड़ा साधन हो सकता है। युवा विधवाओं से अपनी नैसर्गिक इच्छाओं पर नियंत्रण रखने की अपेक्षा करना मूर्खता है, इसलिए वीरेशलिंगम् ने कहा कि जो लड़कियाँ रजस्वला होने से पहले ही विधवा हो जाती हैं उनका विवाह फिर से हो सकता है। इन दिनों संतानवती विधवाएँ भी पुनर्विवाह के लिए आगे आ रही हैं, लेकिन ऐसे विवाह उचित प्रतीत नहीं होते।" यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि सत्यवती प्रकारांतर से वीरेशलिंगम् जैसे उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक समाज सुधारकों की तर्ज पर बात कर रही हैं।

सत्यवती भी वीरेशलिंगम की तर्ज पर संतानवती या युवती स्त्रियों के पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं हैं। पितृसत्तात्मक समाज का मानसिक अनुकूलन उन पर इस कदर हावी है कि बाल विवाह रोकने जैसी तर्कपूर्ण बात कहते हुए भी वे संतानवती विधवाओं के पुनर्विवाह से सहमत नहीं हैं। अन्त:साक्ष्य के अनुसार वे स्वयं युवती विधवा थीं और लगभग 18-19 वर्ष की उम्र में उन्हें वैधव्य झेलना पड़ा। तत्कालीन समाज सुधारकों ने विधवाओं की दो श्रेणियाँ बनाई - पहली श्रेणी में वे स्त्रियाँ थीं जिन्होंने पति को जाना ही नहीं और रजस्वला होने के पहले ही विधवा हो गई। दूसरी श्रेणी उन विधवाओं की थी जो संतानवती थीं और सहजीवन जी चुकी थीं। उमा चक्रवर्ती का मानना है कि समाज सुधारक हिन्दू समाज की परंपरागत दृढ़ संरचना को बिना कोई

नुकसान पहुँचाए समाज सुधार करना चाहते थे, इसलिए पहली श्रेणी की विधवाओं के पुनर्विवाह का तो समर्थन उन्होंने किया जब कि दूसरी श्रेणी की स्त्रियों को यथास्थिति पालन की ही सलाह दी गई। (रीराइटिंग हिस्ट्री, उमा चक्रवर्ती, पृ. 89) पार्वती अठवले ने भी अक्षतयोनि विधवाओं - ऐसी विधवाओं जिनकी कोई संतान न हुई हो, जिनका पति से कोई संसर्ग न हुआ हो, को पुनर्विवाह का अधिकारी माना।

5. दांपत्य - सत्यवती ने 'आत्मचरितमु' में लड़कियों के विवाह और दांपत्य के सन्दर्भ में लिखा है–"लड़कियों का विवाह 10 या 12 वर्ष की अवस्था के बाद ही किया जाना चाहिए। उन्हें अपना इच्छित वर चुनने का अधिकार चाहिए। शिक्षित स्त्रियाँ अपने अभिभावकों की अपेक्षा जीवनसाथी का चुनाव बेहतर कर सकती हैं। दांपत्य में आपसी संबंध ज्यादा महत्वपूर्ण होते हैं - रीति-रिवाजों की अपेक्षा। यदि कोई स्त्री अपनी पसन्द से पति का चुनाव करती है और आगे चलकर उनके दांपत्य संबंध में किसी प्रकार की कठिनाई आती है तो किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, उसे ईश्वरेच्छा मानकर संतोष कर लिया जाता है। ऐसे मामलों में स्त्री किसी से शिकायत नहीं कर सकती। क्या सावित्री ने अपने मार्ग में आए कष्टों की परवाह की? पतिव्रताएँ कठिन परिस्थितियों में भी संतुष्टि ढूँढ़ लेती हैं। यदि लड़कियों को मनपसन्द वर चुनने की छूट हो तो उन्हें अवैध संबंध बनाने से रोका जा सकता है। दाम्पत्य सुख, संसार का सर्वोत्तम सुख है। विशेषकर यदि पति-पत्नी एक-दूसरे से प्रेम करें। स्त्री अपने पति से सर्वाधिक प्रेम करे और पति के प्रति अपने सभी कर्त्तव्यों का पालन करे। कुछ स्त्रियाँ अपने पति के बुरे वक्त में उसकी आलोचना-निन्दा करती हैं और अच्छे वक्त में प्रेम करती हैं। आर्य धर्म यही है कि दोनों, समभाव से, सुख-दुख में एक-दूसरे को प्रेम करें। पति-पत्नी को एक-दूसरे की भावनाओं का आदर करना चाहिए। पुरुष को यह नहीं भूलना चाहिए कि 'सतीत्व' का प्रश्न उसके लिए भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि स्त्री के लिए।

6. सृजन प्रश्न - सत्यवती का कहना है कि ऐसे बहुत-से प्रश्न हैं, जो अनुत्तरित हैं, जैसे हम इस संसार में क्यों आए हैं? यह संसार किसने बनाया है? इन सब का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है। सिर्फ एक ही ढंग से हम सोच सकते हैं कि हम सब ईश्वर के हाथों की कठपुतलियाँ हैं। वही ईश्वर पूरे विश्व का नियामक और नियंता है।

7 . मृत्युभोज - सत्यवती का कहना है कि जब जीते जी एक व्यक्ति अपना खाया भोजन दूसरे में स्थानांतरित नहीं कर सकता तब मृत्यु के बाद ब्राह्मणों को खिलाने से मृतक की क्षुधा कैसे तृप्त हो सकती है। मृत्यु के बाद पुत्र ही श्राद्ध का अधिकारी होता है, लेकिन यदि कोई पुत्रहीन हो तो? यदि मृतक पुनर्जन्म लेता है तो श्राद्ध करने का क्या प्रयोजन है? कई लोग अपने माता-पिता से जीते जी तो दुर्व्यवहार करते हैं और मृत्यूपरान्त श्राद्ध-भोज करते हैं। यह सब सामाजिक ढकोसले के अलावा कुछ नहीं है। मृत्यु के बाद किसी के लिए कुछ करने का क्या अर्थ है। श्राद्ध की रीत इसीलिए बनाई गई है ताकि धनी व्यक्ति कम से कम, इस दिन क्षुधित, निर्धनों को अच्छा भोजन खिलाएँ, मृत व्यक्ति के नाम पर अन्न-वस्त्र का दान निर्धनों को मिल सके।

8. ईश्वरीय सत्ता का खेल - सत्यवती का मानना है कि यदि मनुष्य के सभी कार्य विनरहित होते जाएँ तो ईश्वरीय सत्ता पर से उसका विश्वास उठ जाएगा। इसलिए ईश्वर मनुष्य के मार्ग में बाधाएँ और रुकावटें डाल देता है। सुख-दुख सब ईश्वर के रचे हुए खेल हैं।

9 . कर्मफल - मनुष्य द्वारा किए हुए सभी कार्यों का उत्तरदायी कौन है? हम स्वयं कर्त्ता हैं, या ईश्वरीय सत्ता हमसे कर्म करवाती है? हमेशा हमारे कर्मफल इच्छानुरूप नहीं होते। यह कहा जाता है कि जो लोग अच्छे कर्म करते हैं, उन्हें स्वर्ग और बुरे कर्म करने वालों को नर्क मिलता है। लेकिन क्या किसी ने भी स्वर्ग और नर्क देखा है? क्या किसी ने ईश्वर को देखा है? ग्रंथों में ईश्वर का जो वर्णन मिलता है, क्या वह स्वानुभूत है? स्पष्ट है कि मनुष्य ने स्वयं ही पाप और पुण्य की अवधारणाओं का निर्माण किया है। पापी वही है, जो दूसरों का दमन करे और पुण्यकर्ता वही है, जो मनुष्य मात्रा के लिए हृदय में प्रेम और दया रखे।

10. ईश्वरीय संसार के अन्तर्विरोध - सत्यवती ईश्वर के बनाए हुए संसार के अन्तर्विरोधों के उदाहरण देती हुई कहती हैं कि ईश्वर ने पाप की रचना की, लेकिन मनुष्यों से कहा कि पाप से दूर रहो। ईश्वर इस जन्म में, हमें पूर्वजन्म के पापों का दण्ड देता है। महाभारत और भागवत जैसी पुस्तकों में पाप और पुण्य की बातें लिखी हैं। उसी ईश्वर ने हम में से किसी को सच्चा और किसी को झूठा इंसान बनाया है - उसी ने हम में से किसी को निर्धन और किसी को धनवान बनाया है। यह क्या विरोधाभास नहीं है? ईश्वर तो भक्तों के रक्षार्थ है, इसके बावजूद वह कभी-कभी अपने भक्तों की रक्षा नहीं करता। क्या यह

वादाखिलाफी नहीं है? पतिव्रताओं को जीवन की कठिनाइयों और संघर्षों को झेलने के लिए ढकेल देना – ईश्वरोचित तो नहीं है न। जब स्वयं ईश्वर में अच्छाइयों और बुराइयों का सम्मिश्रण है तो वह मनुष्यों से कैसे अपेक्षा रख सकता है कि उनमें केवल गुण हों – अवगुणों का लेश भी नहीं? क्या यह ईश्वर की तरकीब नहीं है, चालाकी और अन्तर्विरोध नहीं है? इसलिए अच्छा है कि ईश्वर की मिथ्याचारिता में विश्वास करने और भ्रम में जीने की अपेक्षा मनुष्य मात्रा में विश्वास किया जाए।

सत्यवती के 'आत्मचरितमु' का विश्लेषण दो स्तरों पर किया जाना चाहिए। पहले विश्लेषण का आधार पाठ हो सकता है, अर्थात पाठ का गहन विश्लेषण और दूसरे विश्लेषण का आधार व्यापक सामाजिक संदर्भ हो सकता है। चूँकि 'आत्मचरितमु' में आत्मकथाकार के जीवन से संबंधित किसी भी तिथि का अभाव है, अतः गहन पाठ-विश्लेषण ही हमें विश्लेषण के द्वितीय चरण तक पहुँचा सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सत्यवती की आत्मकथा के पहले और दूसरे भाग में तनाव दिखाई देता है। पाठक चाहे तो दोनों को स्वतंत्र रूप से अलग-अलग भी पढ़ सकता है। पहला भाग पूरी तरह सत्यवती के जीवन की वैधव्यपर्यन्त घटनाओं तक सीमित है और दूसरा उनकी 'विश्वदृष्टि' को बताने के लिए लिखा गया है, जिसमें किसी भी जीवन प्रसंग का नितांत अभाव है। भूमिका में सत्यवती ने पुस्तक के उद्देश्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि स्त्री जाति के दमन के प्रतिरोध में वह पुस्तक लिखने में प्रवृत्त हुई है। पुस्तक के दूसरे भाग में इसलिए वह स्वयं को 'पतिव्रता' कहती हैं और समाज, ईश्वर, परंपरा, रीति-रिवाज की तीक्ष्ण आलोचना करने का लाइसेंस भी प्राप्त कर लेती हैं।

यहाँ सवाल है कि क्या वह ईश्वर, ईश्वरीय सत्ता, परम्परा, रीति-रिवाज का तर्कपूर्ण विश्लेषण करने या उनका कोई विवेकपूर्ण समाधान खोजने में सक्षम हो पाई हैं? पाठ-विश्लेषण बताता है कि प्रारंभिक अंशों में आलोचना का स्वर तीक्ष्ण और कटु है, जो परिशिष्ट तक आते-आते मद्धम और भोथरा हो गया है। वे रीति-रिवाजों, रूढ़ियों की आलोचना तो करती हैं, लेकिन उनका तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। कभी ईश्वरीय सत्ता में अनास्था की बात करती हैं, कभी आस्था और विश्वास की। वे विधवाओं के पुनर्विवाह की हिमायत करती हैं, लेकिन मनुष्यता की दृष्टि से नहीं, तत्कालीन समाज सुधारकों के प्रभावानुरूप। यहाँ तक कि वे वीरेशलिंगम (1848-1919) का हवाला प्रायः

25 वर्ष बाद दे रही हैं। ऐसा लगता है कि वह वीरेशलिंगम की 'हितकारिणी' सभा और उसके उद्देश्यों से प्रभावित थीं।

'आत्मचरितमु' को देखकर कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक भारत में बदलते जीवन मूल्यों और बढ़ते पाश्चात्य प्रभाव से सत्यवती का अच्छा परिचय रहा होगा। यह वह दौर था जब हिन्दुओं के घरेलू जीवन पर ब्रिटिश जीवन शैली के कई सकारात्मक प्रभाव देखे जाने लगे थे। बंगाल पहला प्रान्त था जहाँ के भद्र पुरुषों ने अपने लेखों, पत्र-पत्रिकाओं में घरेलू जीवन विशेषकर स्त्री के आचरण को विचार-विमर्श के लिए विशेष अनुकूल पाया। इसे घरेलू जीवन में सुधार की आकांक्षा कहा जा सकता है। पार्थ चटर्जी का मानना है कि औपनिवेशिक समाज में केवल परिवार और गृहस्थी का क्षेत्र ही 'उसके' विशिष्ट 'निजी' कार्यक्षेत्र के रूप में बच रहा था।

आंध्र प्रदेश तक आते-आते बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक तक नौकरीपेशा वर्ग, मध्य वर्ग के नाम से जाना जाने लगा था। इस वर्ग की स्त्रियाँ साक्षरता की पहली सीढ़ी भी पार कर चुकी थीं। सत्यवती ने जिस तरह भावी पति के संग रोमांस का चित्रण किया, वह इस बात की पुष्टि करता है कि नई बदली हुई जीवन शैली के प्रति उनमें आकर्षण था। औपनिवेशिक शासन के अनन्तर पुरुष वर्ग बड़ी तेजी से सरकारी नौकरियों की ओर आकर्षित हो रहा था, जिसने संयुक्त परिवार के विघटन में बड़ी भूमिका निभाई। सत्यवती के पति ने भी नौकरी पाने के बाद परिवार से दूर एकल गृहस्थी बसाई। इस नई एकल परिवार व्यवस्था ने पति-पत्नी को व्यक्तिगत विकास और परस्पर समझ विकसित करने के बेहतर अवसर प्रदान किए होंगे। साथ ही, दांपत्य प्रेम की अभिव्यक्ति के अपेक्षाकृत अधिक अवसर भी उन्हें मिले होंगे, जो पहले से चली आती हुई संयुक्त परिवार व्यवस्था में एक सीमा तक ही संभव था।

दांपत्य प्रेम से मिले 'आत्मविश्वास' को सत्यवती के 'पतिव्रता' (विधवा होने के बावजूद) के दावे के पीछे पहचानना कठिन नहीं। परम्परा से, भारतीय समाज में 'विधवा' का दर्जा अपमानजनक और निचला है। (रीराइटिंग हिस्ट्री–द लाइफ एंड टाइम्स ऑफ पंडिता रमाबाई, उमा चक्रवर्ती, नई दिल्ली, 1998, पृ. 270-271) सुहागिन स्त्री को पहला दर्जा मिलता है - यदि वह पुत्रवती हो। पुत्रियों वाली माता का स्थान इससे नीचा है। ऐसे में एक विधवा द्वारा 'पतिव्रता' पद का दावा करना अपने आप में चली आती हुई व्यवस्था के लिए चुनौतीपूर्ण है। दूसरी तरफ सत्यवती ईश्वर, ईश्वरीय सत्ता को तर्कपूर्ण चुनौती देती है, लेकिन

पुनर्जन्म लेकर पति को पुनः प्राप्त करने के लिए पति की तस्वीर की पूजा और ईश्वर से प्रार्थना भी करती हैं।

तीन

'आमार जीबन' और 'आत्मचरितमु' ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दो पड़ावों, समाज और स्त्री मन पर पड़े प्रभावों की पड़ताल करने के लिए विशिष्ट पाठ की भूमिका निभा सकते हैं। राससुंदरी ने 1872 में और सत्यवती ने 1934 में आत्मकथा-लेखन किया, दोनों में लगभग बहत्तर वर्ष का अन्तराल है। सात दशकों के अन्तर को भारतीय स्त्री की मनुष्य के रूप में पहचान और अन्तर्विरोधों के बावजूद हाशिए की आवाज को केन्द्र में सुनवाए जाने की पुरजोर कोशिश के रूप में देखा जा सकता है। देश के किसी भी अन्य भाग से पहले बंगाल में समाज सुधारों का दौर शुरू हुआ। ब्रह्म समाज के प्रभाव से वीरेशलिंगम ने समाज सुधार के प्रयास प्रारंभ किए। इन समाज सुधारकों की केन्द्रीय चिन्ता स्त्री को लेकर थी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक ग्रामों तक स्त्री शिक्षा जैसे संदेश क्रिया-रूप में परिणत नहीं हो पाए थे, लेकिन कलकत्ता जैसे शहरों में एक 'नई स्त्री' का उदय हो रहा था, जो पूर्व-औपनिवेशिक स्त्री से अलग थी। भले ही विवाह की उम्र 10-12 वर्ष रही हो, लेकिन आर्यसमाज के प्रभाव एवं विभिन्न प्रान्तों के समाज सुधारकों के प्रभाव से वह शिक्षित होने की प्रक्रिया में थी, हालाँकि यह प्रक्रिया असाधारण रूप से मन्द थी।

सती प्रथा के विरोध में कानून बन जाने से सार्वजनिक तौर पर किसी भी स्त्री को सती होने के लिए बाध्य करना संभव नहीं रह गया था, हालाँकि देश के कुछ भागों में अब भी यह चोरी-छिपे ही सही, व्यवहार में थी। धीरे-धीरे स्त्रियों के विवाह की न्यूनतम उम्र को लेकर भी समाज सुधारक चिंतित और प्रयासरत दिखाई दे रहे थे। लेकिन यहाँ भी स्त्रियों के सामाजिक विकास की एक सीमा थी। बदले हुए समय में भी वे अंग्रेजी शिक्षा से वंचित ही रखी जा रही थीं, जब कि पुरुषों के लिए अंग्रेजी का ज्ञान नौकरी और सम्मान पाने के माध्यम के रूप में पहचाना जा चुका था। सरकारी नौकरी में स्त्री का कोई स्थान नहीं था। यह एक नई तरह की पितृसत्तात्मक व्यवस्था थी, जिसमें स्त्री पढ़-लिख तो सकती थी लेकिन केवल पौराणिक, आध्यात्मिक ग्रन्थ, जो उसे तर्क की जगह आस्था सिखाएँ। स्त्री भारतीय सामाजिक परंपरागत मूल्यों का सम्मान करे। इन मूल्यों में अनुशासन का पालन, कम खर्च में गृहस्थी चलाने के

गुण, घर-रसोई, संतान, पति की देखभाल (कपड़े धोने, साफ-सफाई से लेकर तेल-मसाले ठीक-ठाक रखने तक) तथा और भी अनंत कर्त्तव्य निहित थे। नई बदली परिस्थितियों में स्त्री को अधिकांश काम खुद करने थे। साथ ही, उससे यह भी अपेक्षित था कि वह खुद को पश्चिमी स्त्री से बेहतर साबित करे, यानी सामाजिक मेल-जोल, वेशभूषा, खान-पान, धर्म का ज्ञान ग्रहण करे, भारतीय आध्यात्मिक दर्शन को न भूले, पति को परमेश्वर मानती रहे। उसे पुरुषों के समान खाने-पीने, बातचीत करने का अधिकार नहीं था। पुरुष की कड़ी निगरानी उस पर रहती थी। व्रत-उपवास से लेकर तीज-त्यौहार, स्त्री धर्म के पालन में दिन-रात के चौबीस घंटे उसके कर्त्तव्य के लिए कम पड़ते थे। यानी ''गृहस्थी को बगैर तितर-बितर किए, बगैर मेमसाहब बने, स्त्री को अपनी सीमाओं में रहकर आजादी तलाशने की चुनौती इस नई पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने दी।

'आमार जीबन' में एक स्त्री का संघर्ष, आत्माभिव्यक्ति की जद्दोजहद और साक्षर होकर अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने की तीव्रतम इच्छा व्याप्त है, इसलिए राससुंदरी देवी विधवा होने को 'स्वर्णमुकुट के छिन जाने' का रूपक देती हुई भी पति से स्वतंत्र अपना व्यक्तित्त्व गढ़ती है। पूरी आत्मकथा में सिर्फ एक बार वह कायदे से पति की चर्चा करती हैं - वह भी अति संक्षेप में, पति की निन्दा नहीं करतीं लेकिन पति से 'भय खाती हैं' और इस भय को वह बालमन में, माँ के द्वारा बिठाए गए भय से जोड़ती हैं, जिसके कारण उसका बचपन अन्य सामान्य भारतीय कन्याओं की तरह कुंठित और दमित रह जाता है। ससुराल का प्रत्येक प्राणी उसके लिए डर और भय का कारण है, यहाँ तक कि पति का घोड़ा भी। इसके बरअक्स 'आत्मचरितमु' की सत्यवती नई स्त्री है - वह पति के साथ रोमांस का वर्णन साहित्यिक शैली में निर्द्वन्द्व भाव से करती है। सदैव पति का पक्ष लेती है। अकारण नौकरी से निकाल दिए जाने को चुपचाप स्वीकार नहीं करती। पर्याप्त प्रतिकार करती है। सीताराम्मैया की नौकरी लगने के बाद वह पति के साथ गृहस्थी बसाती है, ससुराल की ओर से उसे किसी रोक-टोक का सामना नहीं करना पड़ता। वह स्वतंत्र भाव से दाम्पत्य जीवन जीती है, पति की मृत्यु के बाद उसके प्रेम और सद्गुणों को बार-बार याद करती है। वह दांपत्य जीवन को सुन्दरतम बताती है, क्योंकि पति के साथ वह मित्रवत रही होगी, उसे संयुक्त परिवार की उन रूढ़ियों, परंपराओं को निभाने की जरूरत नहीं पड़ी, जिनके कारण राससुंदरी छिप-छिप कर छपा हुआ अक्षर पढ़ने की जद्दोजहद करती रहीं।

राससुंदरी अपने दांपत्य जीवन पर (जो लगभग 46 वर्षों का था) अलग से कोई टिप्पणी नहीं करतीं, सिवाय इसके कि इस दौरान उन्होंने 14 बार प्रसव किया। जब कि यह दांपत्य जीवन के गहन आवेग का स्मरण ही है, जो 'आत्मचरितमु' की सत्यवती को पति के साथ सती होने और आत्महत्या की प्रेरणा देता है। इसके बरअक्स राससुंदरी, जो 59 वर्ष की उम्र में विधवा हुई, 88 वर्ष की उम्र में, आत्मकथ्य के दूसरे भाग में ईश्वर को, इतनी लंबी उम्र के लिए धन्यवाद ज्ञापित करती दिखाई देती हैं। यह आकस्मिक नहीं कि पति की मृत्यु के ठीक एक वर्ष बाद राससुंदरी देवी 'आमार जीबन' का प्रकाशन कराती हैं – क्या इसका प्रकाशन पति, जिसे वे 'कर्ता' संबोधित करती हैं, के जीवन काल में संभव था? संभवत: नहीं। संयुक्त परिवार की प्रौढ़ा गृहिणी को भी तब आत्मकथ्य के सार्वजनिक प्रकाशन का साहस होता, इसमें सन्देह है।

अन्त:साक्ष्य बताते हैं कि राससुंदरी पति की मृत्यु के बाद के वर्ष अध्ययन और लेखन को समर्पित करती हैं और अपने समस्त जीवन को ईश्वरीय कृपा मानती हैं। इसकी तुलना में, सत्यवती में एक ढंग का हिन्दू पातिव्रत्य का अहंभाव देखा जा सकता है, जिसे पति में अखण्ड आस्था रखने के कारण 'पतिव्रता' की पदवी मिल गई है और साथ ही यह अधिकार भी कि वह ईश्वर की कड़ी आलोचना कर सके।

राससुंदरी देवी ईश्वरीय चमत्कारों, दुर्घटनाओं के पूर्वाभास की चर्चा करती हैं जिनका कोई तार्किक या वैज्ञानिक आधार नहीं, वहीं सत्यवती अपने विश्लेषणों में ज्यादा प्रखर और विवेकसम्मत दिखाई देती हैं। वे यूँ ही ईश्वर के अस्तित्त्व पर विश्वास नहीं कर लेतीं। वे संसार, जीव की निर्माण प्रक्रिया पर प्रश्न करती हैं, संतोषजनक उत्तर के अभाव में वे ईश्वरीय सत्ता की उपस्थिति मान लेती हैं और अन्तत: इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि ईश्वर निश्चय ही सर्वशक्तिमान है तभी तो वह इतना बड़ा संसार रच पाया और करोड़ों मनुष्यों को कठपुतली की भाँति नचाता रहता है। वे पाप-पुण्य की परंपरागत अवधारणा को एक सिरे से खारिज कर देती हैं और ईश्वरीय सत्ता की अपेक्षा मनुष्यता में अखण्ड विश्वास रखने का सुझाव देती है। सत्यवती के किसी भी समकालीन समाजसुधारक, रचनाकार में दृष्टि की ऐसी प्रखरता नहीं मिलती।

सत्यवती की विश्वदृष्टि के निर्माण में सामाजिक -राजनीतिक आंदोलनों के साथ -साथ स्त्री आंदोलनों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। इसके अतिरिक्त कुछ पुस्तकों विशेषकर गुडीपति वेंकटाचलम (1894-1979) की

'स्त्री', (स्त्री, गुडीपति वेंकटाचलम, विजयवाड़ा, 1961) जिसका प्रकाशन सत्यवती के 'आत्मचरितमु' के चार वर्ष पहले 1930 में हो चुका था और 'सावित्री' (सावित्री (पौराणिका नाटिकालु), गुडीपति वेंकटाचलम, विजयवाड़ा) शीर्षक नाटक जो 1924 में प्रकाशित हुआ - इन दोनों से सत्यवती भली-भाँति परिचित रही होंगी। 'स्त्री' में चलम ने स्त्री संबंधी विभिन्न मुद्दों - प्रेम, विवाह, सेक्स, शिक्षा और स्वातंर्त्य तथा पितृसत्तात्मक मूल्यों का विश्लेषण किया था। 'सावित्री' नाटक में सावित्री और सत्यवान की पौराणिक कथा का नाट्य रूपांतर किया गया, जिसके अंत में यम द्वारा सावित्री के पातिव्रत्य की परीक्षा लिया जाना वर्णित था कि सावित्री 'पातिव्रत्य' की रक्षा के लिए 'यम' की हत्या करने के लिए भी तत्पर हो जाती है। यम अन्ततः सावित्री के पातिव्रत्य की प्रशंसा करते हैं कि वह सच्ची पतिव्रता है, जो पति- प्रेम के लिए कुछ भी करने को तत्पर है।

'आत्मचरितमु' से गुजरते हुए बार-बार ऐसा लगता है कि वैधव्य ने 'सत्यवती' को विश्वदृष्टि दी। यदि वे विधवा न हुई होतीं तो सामाजिक रूढ़ियों से कोई असंतुष्टि उन्हें संभवतः न होती। कहीं न कहीं उनके अवचेतन में दांपत्य जीवन जीने की प्रबल आकांक्षा है, जिसकी संभावना का अभाव उन्हें कटु बना देता है। वैधव्य के बाद, सत्यवती ने निजी तौर पर क्या झेला, समाज और उसकी रूढ़ परम्पराओं का सामना कैसे किया - इसके बारे में 'आत्मचरितमु' मौन है। यहाँ तक कि इसमें तिथियों, समकालीन सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों, हलचलों का उल्लेख तक नहीं मिलता। इस अर्थ में यह आत्मकथा अपूर्ण लगती है।

राससुंदरी की आत्मकथा 88 वर्षों का पूरा वृत्त अपने में समेटे हुए है। रचनाकार का कहना है कि उसकी मृत्यु के बाद परिवार का कोई सदस्य यदि चाहे तो आत्मकथा का तीसरा भाग पूरा कर दे। राससुंदरी में पढ़ने-लिखने की प्रबल आकांक्षा है। उनकी विश्वदृष्टि का निर्माण घर में ही उपलब्ध धार्मिक ग्रन्थों ने किया है। 'आमार जीबन' में भी तत्कालीन सामाजिक हलचलों की कोई आहट नहीं मिलती। राससुंदरी संयुक्त परिवार की गृहिणी हैं जिसे अपने युवा पुत्रों से भी पुस्तक माँगने में संकोच है। वे भरसक चाहती रही हैं कि उनके लिखने-पढ़ने का पता किसी को न चले, क्योंकि लोकनिन्दा होगी। पहला उपयुक्त अवसर मिलते ही 'आमार जीबन' लिख डालती हैं और बता देती हैं पाठकों को, कि स्त्री होना एक अभिशाप से कम नहीं - भले ही वह सवर्ण

हो या दलित। सवर्ण स्त्री के शोषण में कुल मर्यादा, वंश परंपरा, ब्राह्मणवादी अनुष्ठान, आडंबर अपनी-अपनी आतंककारी भूमिका निभाते हैं - स्त्री केवल 'श्रमिक' है, दिन-रात के घरेलू श्रम के बदले में भी उसे 'उत्पादक' का दर्जा अप्राप्य है। संतान पैदा करना गार्हस्थ्य धर्म का अंग है - उसमें कैसा वैशिष्ट्य? पूरे दिन काम करने के बाद भी नियमित एवं पोषक आहार मिलने की कोई गारंटी नहीं। उसे अपनी तकलीफ को घूँघट के भीतर छिपाकर 'सद्गृहिणी' के खिताब के लिए निरन्तर श्रमशील रहना है, वह निंदा के भय से अपनी भूख-प्यास सब मार देती है। पति के लिए उसका अस्तित्त्व शारीरिक और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले उपकरण का है। घर की साज-सँभाल, बच्चों की देख-रेख के बाद जब वह गृहस्थी के बोझ को नई पीढ़ी को सौंप देती है तभी मुक्ति की साँस ले पाती है। लेकिन ऐसी कितनी स्त्रियाँ निजी विलाप को रचनात्मकता में परिणत कर पाती हैं? करती भी हैं तो पाठकीय रुचि, लोकनिन्दा का भय, सामाजिक अस्वीकृति का भय इतना हावी रहता है कि आत्माभिव्यंजना को आध्यात्मिक खोल ओढ़ाए बिना काम नहीं चलता। राससुंदरी इसी आध्यात्मिक आवरण में आत्मकथ्य कहती हैं, जिसमें अदेखे ईश्वर से निरंतर शिकायत की व्यंजना प्रच्छन्न है - वस्तुतः वही समूची रचना का अन्तर्वर्ती सुर है। राससुंदरी कहीं भी ईश्वर निन्दा नहीं करतीं, उलाहना नहीं देतीं, लेकिन दो -दो दिन निराहार रहकर भी जी जाने को, बीस-बीस घंटे निरन्तर श्रमशील रहकर भी, बीमार न पड़ने को 'ईश्वरीय चमत्कार' से कम नहीं मानतीं। प्रच्छन्न व्यंग्यात्मकता पूरी कृति को विवेक दृष्टि से रचित परिपूर्ण आत्मकथ्य बनाता है।

अब 'आत्मचरितमु' को देखें, जहाँ नव्यपितृसत्तात्मक व्यवस्था में जी रही अपेक्षाकृत स्वतंत्र स्त्री है। लेकिन उसकी सारी स्वतंत्रता 'पति' पर अवलंबित है, जिसके मरते ही सारी स्वतंत्रता छिन जाती है। उसे वापस उसी रुढ़िबद्ध पितृसत्तात्मक समाज में लौट आना पड़ता है। यह 'नई स्त्री' मानसिक तौर पर अपेक्षाकृत ज्यादा कन्फ्यूज्ड है, उसने 'मुक्ति' का स्वाद चखने के बाद बंधन पाए हैं।

सत्यवती विधवा पुनर्विवाह जैसे मुद्दों पर किसी विशिष्ट स्त्रीवादी दृष्टि का अनुगमन करती नहीं दिखाई देती हैं। वे पुरुष समाज सुधारकों की तर्ज पर ही संतानवती और पति-संसर्ग कर चुकी विधवाओं के पुनर्विवाह से सहमत नहीं हैं। जबकि देखा जाए तो जब वे 'विधवा' होकर के 'पतिव्रता' का दावा करती हैं तो पुनर्विवाह के लिए 'अक्षतयोनि' होने की शर्त क्यों? राससुंदरी देवी भी

भारतीय विधवाओं की दुर्दशा, उनके लिए बनाए गए कड़े नियमों की आलोचना करती हैं, क्योंकि वैधव्य के बाद स्त्री से उसके अच्छा दिखने का अधिकार छीन कर एक ढंग से उसके बधियाकरण की प्रस्तावना की जाती है।

नवजागरण के दौर में लगभग प्रत्येक भारतीय भाषा में स्त्रियाँ आत्मकथ्य रच रही थीं। कुछ का प्रकाशन हुआ, कुछ विस्मृति के गर्भ में अभी भी हैं। 'सत्यवती' की आत्मकथा आंध्र प्रदेश राज्य आर्काइव के पन्नों से बमुश्किल बाहर आ पाई। इस तरह के अनुसंधान एवं पाठ विश्लेषण स्त्री लेखन को नया आयाम देंगे, ऐसी संभावना है।

लेख के शीर्षक में 'प्रति-आख्यान' शब्द में 'प्रति' विरोध या विरुद्ध के अर्थ में है। (सन्दर्भ–संस्कृत-हिंदी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे)

4

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा का विश्लेषण

"मैं देश के निम्नमध्यवर्गीय समाज की उपज हूँ। मैंने देश के बहुसंख्यक समाज को विपरीत परिस्थितियों से जूझते, कुम्हलाते और समाप्त होते देखा है। वह पीड़ा और सामाजिक आर्तनाद ही मेरे लेखन का आधार रहा है। उन सामाजिक कुरीतियों, विषमताओं तथा बंधनों को मैंने अपने पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास किया है जिससे वह भी उनके प्रति सजग हों, उन बुराइयों के प्रति सचेत हों जो समाज को पिछड़ापन देती हैं। 75 साल का लेखन पिंजरे की मैना के साथ संपूर्ण होता है और यह मेरी छियासी साल की जीवनयात्रा का वास्तविक दस्तावेज है।"

हिन्दी कथा साहित्य में महिला रचनाकारों की आत्मकथाएँ उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं। पुरुषवर्ग यह सवाल पूछता है कि लेखिकाएँ अपनी आत्मकथाएँ क्यों नहीं लिखतीं? पर लिखी गयी आत्मकथाओं को इस या उस कारण से स्वीकृति नहीं देता। स्त्री रचनाकारों और पाठकों-प्राध्यापिकाओं का भी एक बड़ा वर्ग इस विधा में लेखन को 'अपने घर का कूड़ा' या 'महज अपने जीवन का कच्चा चिट्ठा' मानकर गंभीरता से नहीं लेता बल्कि एक सिरे से इसे खारिज करते हुए कहता है कि साहित्य कूड़ा फेंकने का मैदान नहीं है।

'साहित्य समाज का दर्पण है' उक्ति घिस-घिस कर पुरानी हो गई, पर साहित्य का समाजशास्त्रीय विश्लेषण आज भी साहित्य का एक अनिवार्य हिस्सा नहीं बन पाया। साहित्य और समाज विज्ञान के बीच की इस खाई ने साहित्य

को शुद्ध कलावादी बना दिया और समाज विज्ञान के मुद्दों को एक अलग शोध का विषय, जिसका साहित्य से कोई वास्ता नहीं।

सुभद्राकुमारी चौहान, सुमित्रज्ञकुमारी सिन्हा के कालखंड की एक बेहद महत्वपूर्ण लेखिका चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जी ने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अपनी लंबी चुप्पी को तोड़ा। अपनी आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' में अपने जीवन के ऐसे बेहद निजी अनुभवों और त्रासदियों को उड़ेल दिया जिसे घर और बाहर एक साथ जूझती, उस समय के मध्यवर्गीय समाज की, एक औसत स्त्री की त्रासदी से जोड़कर देखा जा सकता है। वे उम्र के उस पड़ाव पर पहुँच चुकी थीं, जब व्यक्ति अपनी भरपूर जिन्दगी जी चुकता है। जिया जा रहा समय उसे बोनस लगता है और उसे लगता है, अब उसके पास खोने के लिए कुछ नहीं बचा। उसकी कलम बेबाक हो जाती है और सच बोलने से उसे न खौफ होता है, न परहेज।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जी का जन्म 1920 में हुआ, जब अधिकांश औरतें पढ़ने-लिखने के बावजूद अमूमन गृह स्थिनें ही हुआ करती थीं। 1940 में उनका विवाह लेखक, पत्रकार और सुप्रसिद्ध छायाकार कांतिचंद्र सौनरेक्सा से हुआ। शादी के बाद बच्चों की तमाम जिम्मेदारियाँ निभाते हुए भी चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जी हमेशा एक सफल कामकाजी महिला रहीं। उन दिनों मनोरंजन के एक प्रमुख साधन के रूप में रेडियो काफी लोकप्रिय था। रेडियो पर लता मंगेशकर के गाने जितने लोकप्रिय थे, लखनऊ के पुराने वाशिंदे बताते हैं कि उतनी ही लोकप्रिय चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जी की 'गृहलक्ष्मी' की वार्ताएँ और 'घर चौबारा' की कहानियाँ हुआ करती थीं।

आकाशवाणी में बेहद लोकप्रिय और नये से नये कार्यक्रम देने वाली यह उस समय की युवा लेखिका भी एक माँ और पत्नी के रूप में एक सामान्य औसत गृहिणी के त्याग और सहनशीलता के गुणों से लैस जीवन जीती हैं। उनकी एक कहानी अमृत राय संपादित 'हंस' में स्वीकृत होती है तो पति, संपादक का पत्र देखकर फाहश शब्दावली का इस्तेमाल करते हैं। पत्नी की कहानी की स्वीकृति पर ऐसी प्रतिक्रिया उस पति की है, जो तीन बेटियों का बाप होने के बावजूद सरकारी नौकरी के प्रोबेशन पीरियड में ही एक प्रेम में पड़ जाता है। पत्नी अपने लेखन और ट्यूशन के बूते अपने बाबूजी के पास अलीगढ़ जाना चाहती है पर पत्नी के चले जाने से सामाजिक प्रतिष्ठा और नौकरी जाने की संभावना है इसलिए पति को यह स्वीकार नहीं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा लिखती

हैं – 'रोमांस और शादी' – यथार्थ की धरती पर चूर चूर हो गए। किसी के दोनों हाथों में लड्डू नहीं हो सकते। यह खोने और पाने का सिलसिला न होता तो दुनिया कब की जंगल राज्य में बदल चुकी होती।'

प्रोबेशन पीरियड खत्म होने के बाद डिप्टी कलेक्टर की स्थायी सरकारी नौकरी पाने के बाद फिर एक दिन लेखक पत्रकार छायाकार रात को नौ बजे अपनी एक बीस वर्षीय महिला मित्र को हॉस्टल से घर ले आते हैं और सारे क्रोध, अपमान, आत्मग्लानि के बावजूद पत्नी उन्हें परिवार के सदस्यों की नजर से बचाने के लिए कमरे में भेज देती है और सारी रात गैलरी में अखबार बिछाकर दरवाजे से टेक लगाकर बैठ जाती है। लेकिन बात छिपती नहीं – डिप्टी डायरेक्टर साहब को सस्पेंड किया जाता है और समाचार पत्रों में इस रंगीन अफसाने की खबर छप जाती है। फिर रोटी रोजी का सवाल। किसी तरह सुमित्रानंदन पंत जी और जगदीशचंद्र माथुर के सहयोग से चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जी लखनऊ आकाशवाणी की नौकरी पर नियुक्त हो जाती हैं।

घर और बाहर का मैनेजमेंट – पिछली पीढ़ी की औरतों ने कैसे बखूबी निभाया है, यह कोई श्रीमती सौनरेक्सा से समझ सकता है। पिछली पीढ़ी में तमाम पौरुषीय कारनामों के बावजूद कैसे और क्यों शादियाँ टिकी रहती थीं और किस कीमत पर... यह 'पिंजरे की मैना' किताब पढ़कर बखूबी जाना जा सकता है।

1985 में प्रभात प्रकाशन से उनकी किताब का प्रकाशन, कांति जी के लिए प्रतिशोध का कारण बन गया। उसके बाद हर वर्ग का पुरुष कांति जी को अपनी पत्नी का प्रेमी लगने लगा – चाहे वह कोई संभ्रांत परिचित हो या अखबार देने वाला। कांति जी को यह समझ नहीं आया कि लेखिका चन्द्रकिरण सौनरेक्सा से प्रतिशोध लेने में बदनामी सौनरेक्सा खानदान की बहू की, उनके बच्चों की माँ की हो रही थी। 'अपमान, आत्मग्लानि और घोर मानसिक पीड़ा के दौर से गुजरते हुए, उम्र के इस पड़ाव पर मैं किंकर्तव्यविमूढ़ थी कि किस तरह झूठ के इस बवंडर का सामना करूँ?'

उन्होंने एक लंबे अरसे तक साहित्यिक जगत से अपने को काट लिया, साहित्यिक समारोहों में जाना बंद कर दिया था पर इसकी टीस लगातार बनी रही – 'मैं आज भी निम्न मध्य वर्ग का अंश हूँ, तब भी थी। सोचा, एक मुक्केबाज की चोट से अगर बचना चाहते हो, तो उसके रास्ते से हट जाओ। तब उसके मुक्के हवा में चलेंगे, चलानेवाला भी जब उसकी व्यर्थता जान लेगा, तो हवा में

मुक्केबाजी बंद कर देगा। ...मैं तो स्वनिर्मित गुमनामी के अँधेरे में खो गई। वृंदावन से एक बंदर चला जाए तो वृंदावन सूना नहीं हो जाता। चन्द्रकिरण के साहित्य जगत से हटने से वह सूना नहीं हो गया।'

इस आत्मकथा की तुलना अगर किसी से की जा सकती है तो वह है मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी' जो आत्मकथा नहीं, मन्नू जी की संक्षिप्त लेखकीय यात्रा है पर दोनों किताबों में गजब की ईमानदारी, साफगोई और पारदर्शिता है। शब्द झूठ नहीं बोलते - दोनों आत्मकथाओं के ब्यौरे इस बात के गवाह हैं।

इस कामकाजी महिला ने जिस खूबी से अपने घर और कार्यक्षेत्र की माँग को अपनी दिनचर्या में जिस तरह सुव्यवस्थित किया, उसे देखकर हम नहीं कह सकते कि स्त्री सशक्तिकरण आज के आधुनिक समय की अवधारणा है। इस सशक्तिकरण के बदलते हुए चेहरे को समय के साथ बदलता हम देख पा रहे हैं पर इस अवधारणा का शुरुआती दौर देखने के लिए चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' एक बेहद महत्वपूर्ण पुस्तक साबित होती है। हिन्दी साहित्य के हर अध्येता को इसे पढ़ना चाहिए।

जब मैंने 2008 में किताब पढ़ी, सोचा - पिंजरे की मैना से मिलकर उन्हें बधाई दूँगी कि अन्ततः उन्होंने कलम को हथियार बनाने का भरपूर साहस दिखाया। पर इससे पहले कि मैं उनसे मिलती, मैना पिंजरा खोलकर उड़ गई। बेशक आज समय बदल चुका है पर हिन्दी प्रदेश के उन पिंजरों में, जहाँ आज भी चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जैसी औरतें हैं और वही सब कुछ झेल रही हैं, जो पचास साल पहले की कामकाजी औरत ने झेला, अपने समय की एक महत्वपूर्ण लेखिका का बेबाक और पारदर्शी बयान बहुतों के लिए ताकत का सबब बनेगा।

5

चाली चैप्लिन की आत्मकथा का विश्लेषण

मेरा जन्म ईस्ट लेन, वेलवर्थ में 16 अप्रैल 1889 को रात आठ बजे हुआ था। इसके तुरंत बाद, हम, सेंट स्क्वायर, सेंट जॉर्ज रोड, लैम्बेथ में रहने चले गये थे। मेरी मां का कहना है कि मेरी दुनिया खुशियों से भरी हुई थी। हमारी परिस्थितियां कमोबेश ठीक-ठाक थीं। हम तीन कमरों के घर में रहते थे जो सुरुचिपूर्ण तरीके से सजे हुए थे। मेरी शुरुआती स्मृतियों में से एक तो ये है कि मां रोज रात को थियेटर जाया करती थी और मुझे और सिडनी को बहुत ही प्यार से आरामदायक बिस्तर में सहेज कर लिटा जाती थी और हमें नौकरानी की देख-रेख में छोड़ जाती थी। साढ़े तीन बरस की मेरी दुनिया में सब कुछ संभव था, अगर सिडनी, जो मुझसे चार बरस बड़ा था, हाथ की सफाई के करतब दिखा सकता था और सिक्का निगल कर अपने सिर के पीछे से निकाल कर दिखा सकता था तो मैं भी ठीक ऐसे ही कर के दिखा सकता था। इसलिए मैं अध पेनी का एक सिक्का निगल गया और मजबूरन मां को डॉक्टर बुलवाना पड़ा।

रोज रात को जब वह थियेटर से वापिस लौटती थी तो उसका यह दस्तूर-सा था कि मेरे और सिडनी के लिए खाने की अच्छी-अच्छी चीजें मेज पर ढंक कर रख देती थी ताकि सुबह उठते ही हमें मिल जायें - रंग-बिरंगे और सुगंधित केक का स्लाइस या मिठाई। इसके पीछे आपसी रजामंदी यह थी कि हम सुबह उठ कर शोर-शराबा नहीं करेंगे। वह आम तौर पर देर तक सो कर उठती थी।

मां वैराइटी स्टेज की कलाकार थी। अपनी उम्र के तीसरे दशक को छूती वह नफासत पसंद महिला थी। उसका रंग साफ था, आंखें बैंजनी नीली और लम्बे, हल्के भूरे बाल। बाल इतने लम्बे कि वह आसानी से उन पर बैठ सकती थी। सिडनी और मैं अपनी मां को बहुत चाहते थे। हालांकि वह असाधारण खूबसूरत नहीं थी फिर भी वह हमें स्वर्ग की किसी अप्सरा से कम नहीं लगती थी। जो लोग उसे जानते थे उन्होंने मुझे बाद में बताया था कि वह सुंदर और आकर्षक थी और उसमें सामने वाले को बांध लेने वाले सौन्दर्य का जादू था। रविवार के सैर-सपाटे के लिए हमें अच्छे कपड़े पहनाना उसे बहुत अच्छा लगता था। वह सिडनी को लम्बी पतलून के साथ चौड़े कालर वाला सूट पहनाती, और मुझे नीली मखमली पतलून और उससे मेल खाते नीले दस्ताने। इस तरह के मौके आत्मतुष्टि के उत्सव होते जब हम केनिंगटन रोड पर इतराते फिरते।

लंदन उन दिनों धीर-गंभीर हुआ करता था। शहर की गति मंथर थी, यहां तक कि वेस्टमिन्स्टर रोड से चलने वाली घोड़े जुती ट्रामें भी खरामा-खरामा चलतीं और इसी गति से ही पुल के पास टर्मिनल पर गोल घेरे, रिवाल्विंग टेबल पर घूम जातीं। जब मां के खाते-पीते दिन थे तो हम भी वेस्टमिन्स्टर रोड पर रहा करते थे। वहां का माहौल दिल खुश करने वाला और दोस्ताना होता। वहां शानदार दुकानें, रेस्तरां और संगीत सदन थे। पुल के ठीक सामने कोने पर फलों की दुकान रंगीनियों से भरी होती। बाहर की तरफ तरतीब से रखे गये संतरों, सेबों, नाशपाती और केलों के पिरामिड सजे होते। इसके ठीक विपरीत, सामने की तरफ नदी के उस पार संसद की शांत धूसर इमारतें नजर आतीं।

ये मेरे बचपन का, मेरी मन:स्थितियों का और मेरे जागरण का लंदन था। वसंत में लैम्बेथ की स्मृतियां - छोटी मोटी घटनाएं और चीजें। मां के साथ घोड़ा बस में ऊपर जा कर बैठना और पास से गुजरते लिलाक के दरख्तों को छूने की कोशिश करना। तरह-तरह के रंगों की बस टिकटें, संतरे के रंग की, हरी, नीली, गुलाबी और दूसरे रंगों की। जहां बसें और ट्रामें रुकती थीं, वहां फुटपाथ पर उन टिकटों का बिखरा होना। मुझे वेस्टमिन्स्टर पुल के कोने पर फूल बेचने वाली गुलाबी चेहरे वाली लड़कियां याद आती हैं, जो कोट के बटन में लगाने वाले फूल बनाया करती थीं। उनकी दक्ष उंगलियां तेजी से गोटे और किनारी के फर्न बनाती चलतीं। ताजे पानी छिड़के गुलाबों की भीगी-भीगी खुशबू, जो मुझे बेतरह उदास कर जाती थी और वो उदास कर देने वाले रविवार और पीले चेहरे वाले माता-पिता और उनके बच्चे जो वेस्टमिन्स्टर पुल पर पवन चक्की के खिलौने

तथा रंगीन गुब्बारे लिये घिसटते चलते और फिर पैनी स्टीमर जो हौले से पुल के नीचे से जाते समय अपने फनेल नीचे कर लेते थे। मुझे लगता है इस तरह की छोटी-छोटी घटनाओं से मेरी आत्मा का जन्म हुआ था।

और फिर, हमारे बैठने के कमरे से जुड़ी स्मृतियां जिन्होंने मेरी अनुभूतियों पर असर डाला।

नेल ग्वेन की मां की बनायी आदमकद पेंटिंग जिसे मैं पसंद नहीं करता था। हमारे खाने-पीने की मेज के लम्बोतरे डिब्बे जो मुझमें अवसाद पैदा करते थे और फिर छोटा-सा गोल म्यूजिक बॉक्स जिसकी ऐनामल की हुई सतह पर परियों की तस्वीरें बनी हुई थीं। इसे देख मैं खुश भी होता था और परेशान भी।

महान पलों की स्मृतियां—रायल मछली घर में जाना, मां के साथ वहां के स्लाइड शो देखना, लपटों में मुस्कुराती औरत का जीवित सिर देखना, 'शी' देखना, छः पेनी की भाग्यशाली लॉटरी, सरप्राइज पैकेट उठाने के लिए मां का मुझे एक बहुत बड़े बुरादे के ड्रम तक ऊपर करना और उस पैकेट में से एक कैंडी का निकलना जो बजती नहीं थी और एक खिलौने वाले ब्रुच का निकलना। और फिर कैंटरबरी म्यूजिक हॉल में एक बार जाना जहां लाल आरामदायक सीट पर पांव पसार कर बैठना और पिता को अभिनय करते हुए देखना।

और अब रात का वक्त हो रहा है और मैं चार घोड़ों वाली बग्घी में ऊपर की तरफ सफरी झोले में लिपटा हुआ, मां और उसके थियेटर के और साथियों के साथ चला जा रहा हूं। उनकी चाल में रमा तथा हंसी-खुशी में खुश। हमारा बिगुल बजाने वाला अपनी शेखी में हमें केनिंगटन रोड से घोड़े की साज-सज्जा की सुमधुर रुन झुन और घोड़ों की टापों की संगीतमय आवाज के साथ लिये जा रहा था।

तभी कुछ हुआ। ये एक महीने के बाद की बात भी हो सकती है या थोड़े ही दिनों के बाद की भी। अचानक लगा कि मां और बाहर की दुनिया के साथ सब कुछ ठीक नहीं चल रहा है। वह सुबह से अपनी किसी सखी के साथ बाहर गयी हुई थी और वापिस लौटी तो बहुत अधिक उत्तेजना से भरी हुई थी। मैं फर्श पर खेल रहा था और अपने ठीक ऊपर चल रहे भीषण तनाव के बारे में सतर्क हो गया था। ऐसा लग रहा था मानो मैं कूएं की तलहटी में सुन रहा होऊं। मां भावपूर्ण तरीके से हाव-भाव जतला रही थी, रोये जा रही थी और बार-बार आर्मस्ट्रंग का नाम ले रही थी - आर्मस्ट्रंग ने ये कहा और आर्मस्ट्रंग ने वो कहा।

आर्मस्ट्रंग जंगली है। मां की इस तरह की उत्तेजना हमने पहले नहीं देखी थी और यह इतनी तेज थी कि मैंने रोना शुरू कर दिया। मैं इतना रोया कि मजबूरन मां को मुझे गोद में उठाना पड़ा और दिलासा देनी पड़ी। कुछ बरस बाद ही मुझे उस दोपहरी के महत्त्व का पता चल पाया था। मां अदालत से लौटी थी। वहां उसने मेरे पिता पर बच्चों के भरण-पोषण का खर्चा-पानी न देने की वजह से मुकदमा ठोक रखा था और बदकिस्मती से मामला उसके पक्ष में नहीं जा रहा था। आर्मस्ट्रंग मेरे पिता का वकील था।

मैं पिता को बहुत ही कम जानता था और मुझे इस बात की बिल्कुल भी याद नहीं थी कि वे कभी हमारे साथ रहे हों। वे भी वैराइटी स्टेज के कलाकार थे। एकदम शांत और चिंतनशील। आंखें उनकी एकदम काली थीं। मां का कहना था कि वे एकदम नेपोलियन की तरह दीखते थे। उनकी हल्की महीन आवाज थी और उन्हें बेहतरीन अदाकार समझा जाता था। उन दिनों भी वे हर हफ्ते चालीस पौंड की शानदार रकम कमा लिया करते थे। बस, दिक्कत सिर्फ एक ही थी कि वे पीते बहुत थे। मां के अनुसार यही उन दोनों के बीच झगड़े की जड़ थी।

स्टेज कलाकारों के लिए यह बहुत ही मुश्किल बात होती कि वे पीने से अपने आपको रोक सकें। कारण यह था कि उन दिनों शराब सभी थियेटरों में ही बिका करती थी और कलाकार की अदाकारी के बाद उससे उम्मीद की जाती थी कि वह थियेटर बार में जाये और ग्राहकों के साथ बैठ कर पीये। कुछ थियेटर तो बॉक्स ऑफिस से कम और शराब बेच कर ज्यादा कमा लिया करते थे। कुछेक कलाकारों को तो तगड़ी तनख्वाह ही दी जाती थी जिनमें उनकी प्रतिभा का कम और उस पगार को थियेटर के बार में उड़ाने का ज्यादा योगदान रहता था। इस तरह से कई बेहतरीन कलाकार शराब के चक्कर में बरबाद हो गये। मेरे पिता भी ऐसे कलाकारों में से एक थे। वे मात्रा सैंतीस बरस की उम्र में ज्यादा शराब के कारण भगवान को प्यारे हो गये थे।

मां उनके बारे में मजाक ही मजाक में और उदासी के साथ किस्से बताया करती थी। शराब पीने के बाद वे उग्र स्वभाव के हो जाते थे और उनकी इसी तरह की एक बार की दारूबाजी की नौटंकी में मां उन्हें छोड़-छाड़ कर अपनी कुछ सखियों के साथ ब्राइटन भाग गयी थी। पिता जी ने जब हड़बड़ी में तार भेजा, 'तुम्हारा इरादा क्या है और तुरंत जवाब दो?' तो मां ने वापसी तार भेजा था, 'नाच, गाना, पार्टियां और मौज-मजा, डार्लिंग!'

मां दो बहनों में से बड़ी थी। उनके पिता चार्ल्स हिल्स, जो एक आइरिश मोची थे, काउंटी कॉर्क, आयरलैंड से आये थे। उनके गाल सुर्ख सेबों की तरह लाल थे। उनके सिर पर बालों के सफेद गुच्छे थे। उनकी वैसी सफेद दाढ़ी थी जैसी व्हिस्लर के पोट्रेट में कार्लाइल की थी। वे कहा करते थे कि राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों में पुलिस से छिपने-छिपाने के चक्कर में वे गीले नम खेतों में सोते रहे। इस कारण से उनके घुटनों में हमेशा के लिए दर्द बैठ गया और इस कारण वे दोहरे हो कर चलते थे। वे आखिर लंदन में आ कर बस गये थे और अपने लिए ईस्ट लेन वेलवर्थ में जूतों की मरम्मत का काम-धंधा तलाश लिया था।

दादी आधी घुमक्कड़िन थी। यह बात हमारे परिवार का खुला रहस्य थी। दादी मां हमेशा इस बात की शेखी बघारा करती थी कि उनका परिवार हमेशा जमीन का किराया दे कर रहता आया था। उनका घर का नाम स्मिथ था। मुझे उनकी शानदार नन्हीं बुढ़िया के रूप में याद है, जो हमेशा मेरे साथ नन्हें-मुन्ने बच्चों जैसी बातें करके मुझसे दुआ सलाम किया करती थी। मेरे छः बरस के होने से पहले ही वे चल बसी थीं। वे दादा से अलग हो गयी थीं जिसका कारण उन दोनों में से कोई भी नहीं बताया करता था। लेकिन केट आंटी के अनुसार इसके पीछे पारिवारिक झगड़ा था और दादा ने एक प्रेमिका रखी हुई थी और एक बार उसे बीच में ला कर दादी को हैरानी में डाल दिया था।

आम जगह के मानदंडों के माध्यम से हमारे खानदान के नैतिकता को नापना उतना ही गलत प्रयास होगा जितना गर्म पानी में थर्मामीटर डालकर देखना होता है। इस तरह की आनुवंशिक काबलियत के साथ मोची परिवार की दो प्यारी बहनों ने घर-बार छोड़ा और स्टेज को समर्पित हो गयीं।

केट आंटी, मां की छोटी बहन, भी स्टेज की अदाकारा थी। लेकिन हम उसके बारे में बहुत ही कम जानते थे। इसका कारण यह था कि वह अक्सर हमारी जिंदगी में से आती-जाती रहती थी। वह देखने में बहुत आकर्षक थी और गुस्सैल स्वभाव की थी इसलिए मां से उसकी कम ही पटती थी। उसका कभी-कभार आना अचानक छोटे-मोटे टंटे में ही खत्म होता था कि मां ने कुछ न कुछ उलटा सीधा कह दिया होता था या कर दिया होता था।

अट्ठारह बरस की उम्र में मां एक अधेड़ आदमी के साथ अफ्रीका भाग गयी थी। वह अक्सर वहां की अपनी जिंदगी की बात किया करती थी कि किस तरह से वह वहां पेड़ों के झुरमुटों, नौकरों और जीन कसे घोड़ों के बीच मस्ती भरी जिंदगी जी रही थी।

उसकी उम्र के अट्ठारहवें बरस में मेरे बड़े भाई सिडनी का जन्म हुआ था। मुझे बताया गया था कि वह एक लॉर्ड का बेटा था और जब वह इक्कीस बरस का हो जायेगा तो उसे वसीयत में दो हजार पौंड की शानदार रकम मिलेगी। इस समाचार से मैं एक साथ ही दुखी और खुश हुआ करता था।

मां बहुत अरसे तक अफ्रीका में नहीं रही और इंग्लैंड में आ कर उसने मेरे पिता से शादी कर ली। मुझे नहीं पता कि उसकी जिंदगी के अफ्रीकी घटना-चक्र का क्या हुआ, लेकिन भयंकर गरीबी के दिनों में मैं उसे इस बात के लिए कोसा करता था कि वह इतनी शानदार जिंदगी काहे को छोड़ आयी थी। वह हँस देती और कहा करती कि मैं इन चीजों को समझने की उम्र से बहुत कम हूं और मुझे इस बारे में इतना नहीं सोचना चाहिये।

मुझे कभी भी इस बात का अंदाजा नहीं लग पाया कि वह मेरे पिता के बारे में किस तरह की भावनाएं रखती थी। लेकिन जब भी वह मेरे पिता के बारे में बात करती थी, उसमें कोई कड़ुवाहट नहीं होती थी। इससे मुझे शक होने लगता था कि वह खुद भी उनके प्यार में गहरे-गहरे डूबी हुई थी। कभी तो वह उनके बारे में बहुत सहानुभूति के साथ बात करती तो कभी उनकी शराबखोरी की लत और हिंसक प्रवृत्ति के बारे में बताया करती थी। बाद के बरसों में जब भी वह मुझसे खफा होती, वह हिकारत से कहती, 'तू भी अपने बाप की ही तरह किसी दिन अपने आपको गटर में खत्म कर डालेगा।'

वह पिताजी को अफ्रीका जाने से पहले के दिनों से जानती थी। वे एक दूसरे को प्यार करते थे और उन्होंने शामुस ओश्ब्रीयन नाम के एक आयरिश मेलोड्रामा में एक साथ काम किया था। सोलह बरस की उम्र में मां ने उसमें प्रमुख भूमिका निभायी थी। कम्पनी के साथ टूर करते हुए मां एक अधेड़ उम्र के लॉर्ड के सम्पर्क में आयी और उसके साथ अफ्रीका भाग गयी। जब वह वापिस इंग्लैंड आयी तो पिता ने अपने रोमांस के टूटे धागों को फिर से जोड़ा और दोनों ने शादी कर ली। तीन बरस बाद मेरा जन्म हुआ था। मैं नहीं जानता कि शराबखोरी के अलावा और कौन-कौन सी घटनाएं काम कर रही थीं लेकिन मेरे जन्म के एक बरस के ही बाद वे दोनों अलग हो गये थे। मां ने गुजारे भत्ते की भी मांग नहीं की थी। वह उन दिनों खुद एक स्टार हुआ करती थी और हर हफ्ते 25 पौंड कमा रही थी। उसकी माली हैसियत इतनी अच्छी थी कि अपना और अपने बच्चों का भरण-पोषण कर सके। लेकिन जब उसकी जिंदगी

में दुर्भाग्य ने दस्तक दी तभी उसने मदद की मांग की। अगर ऐसा न होता तो उसने कभी भी कानूनी कार्रवाई न की होती।

मां को उसकी आवाज बहुत तकलीफ दे रही थी। वैसे भी उसकी आवाज कभी भी इतनी बुलंद नहीं थी लेकिन जरा-सा भी सर्दी-जुकाम होते ही उसकी स्वर तंत्री में सूजन आ जाती थी जो फिर हफ्तों चलती रहती थी, लेकिन उसे मजबूरी में काम करते रहना पड़ता था। इसका नतीजा यह हुआ कि उसकी आवाज बद से बदतर होती चली गयी। वह अब अपनी आवाज पर भरोसा नहीं कर सकती थी। गाना गाते-गाते बीच में ही उसकी आवाज भर्रा जाती या अचानक गायब ही हो जाती और फुसफुसाहट में बदल जाती। तब श्रोता बीच में ठहाके लगाने लगते। वे गला फाड़ कर चिल्लाना शुरू कर देते। आवाज की चिंता ने मां की सेहत को और भी डांवाडोल कर दिया था और उसकी हालत मानसिक रोगी जैसी हो गयी। नतीजा यह हुआ कि उसे थियेटर से बुलावे आने कम होते चले गये और एक दिन ऐसा भी आया कि बिल्कुल बंद ही हो गये।

ये उसकी आवाज के खराब होते चले जाने के कारण ही था कि मुझे पांच बरस की उम्र में पहली बार स्टेज पर उतरना पड़ा। मां आम तौर पर मुझे किराये के कमरे में अकेला छोड़ कर जाने के बजाये रात को अपने साथ थियेटर ले जाना पसंद करती थी। वह उस वक्त कैंटीन एट द' एल्डरशाट में काम कर रही थी। ये एक गंदा, चलताऊ-सा थियेटर था जो ज्यादातर फौजियों के लिए खेल दिखाता था। वे लोग उजड्ड किस्म के लोग होते थे और उन्हें भड़काने या ओछी हरकतों पर उतर आने के लिए मामूली-सा कारण ही काफी होता था। एल्डरशॉट में नाटकों में काम करने वालों के लिए वहां एक हफ्ता भी गुजारना भयंकर तनाव से गुजरना होता था।

मुझे याद है, मैं उस वक्त विंग्स में खड़ा हुआ था जब पहले तो मां की आवाज फटी और फिर फुसफुसाहट में बदल गयी। श्रोताओं ने ठहाके लगाना शुरू कर दिये और अनाप-शनाप गाने लगे और कुत्ते बिल्लियों की आवाजें निकालना शुरू कर दिया। सब कुछ अस्पष्ट-सा था और मैं ठीक से समझ नहीं पा रहा था कि ये सब क्या चल रहा है। लेकिन शोर-शराबा बढ़ता ही चला गया और मजबूरन मां को स्टेज छोड़ कर आना पड़ा। जब वह विंग्स में आयी तो बुरी तरह से व्यथित थी और स्टेज मैनेजर से बहस कर रही थी। स्टेज मैनेजर ने मुझे मां की सखियों के आगे अभिनय करते देखा था। वह मां से शायद यह कह रहा था कि उसके स्थान पर मुझे स्टेज पर भेज दे।

और इसी हड़बड़ाहट में मुझे याद है कि उसने मुझे एक हाथ से थामा था और स्टेज पर ले गया था। उसने मेरे परिचय में दो चार शब्द बोले और मुझे स्टेज पर अकेला छोड़ कर चला गया और वहां फुट लाइटों की चकाचौंध और धुंए के पीछे झांकते चेहरों के सामने मैंने गाना शुरू कर दिया। ऑरक्रेस्टा मेरा साथ दे रहा था। थोड़ी देर तक तो वे भी गड़बड़ बजाते रहे और आखिर उन्होंने मेरी धुन पकड़ ही ली। ये उन दिनों का एक मशहूर गाना जैक जोन्स था।

जैक जोंस सबका परिचित और देखा भाला
घूमता रहता बाजार में गड़बड़झाला
नहीं नजर आती कोई कमी जैक में हमें
तब भी नहीं जब वो जैसा था तब कैसा था
हो गयी गड़बड़ जब से छोड़ा उसे बुलियन गाड़ी ने
हो गया बेड़ा गर्क, जैक गया झाड़ी में
नहीं मिलता वह दोस्तों से पहले की तरह
भर देता है मुझे वह हिकारत से
पढ़ता है हर रविवार वह अखबार टेलिग्राफ
कभी वह बन कर खुश था स्टार
जब से जैक के हाथ में आयी है माया
क्या बतायें, हमने उसे पहले जैसा नहीं पाया।

अभी मैंने आधा ही गीत गाया था कि स्टेज पर सिक्कों की बरसात होने लगी। मैंने तत्काल घोषणा कर दी कि मैं पहले पैसे बटोरूंगा और उसके बाद ही गाना गाऊंगा। इस बात पर और अधिक ठहाके लगे। स्टेज मैनेजर एक रुमाल ले कर स्टेज पर आया और सिक्के बटोरने में मेरी मदद करने लगा। मुझे लगा कि वो सिक्के अपने पास रखना चाहता है। मैंने ये बात दर्शकों तक पहुंचा दी तो ठहाकों का जो दौरा पड़ा वो थमने का नाम ही न ले। खास तौर पर तब जब वह रुमाल लिये-लिये विंग्स में जाने लगा और मैं चिंतातुर उसके पीछे-पीछे लपका। जब तक उसने सिक्कों की वो पोटली मेरी मां को नहीं थमा दी, मैं स्टेज पर वापिस गाने के लिए नहीं आया। अब मैं बिल्कुल सहज था। मैं दर्शकों से बातें करता रहा, मैं नाचा और मैंने तरह-तरह की नकल करके दिखायी। मैंने मां के आयरिश मार्च थीम की भी नकल करके बतायी।

रिले . . रिले. . बच्चे को बहकाते रिले
रिले. . रिले. . मैं वो बच्चा जिसे बहकाते रिले

हो बड़ी या हो सेना छोटी
नहीं कोई इतना दुबला और साफ
करते अच्छे सार्जेंट रिले
बहादुर अट्ठासी में से रिले. .।

और कोरस को दोहराते हुए मैं अपने भोलेपन में मां की आवाज के फटने की भी नकल कर बैठा। मैं ये देख कर हैरान था कि दर्शकों पर इसका जबरदस्त असर पड़ा है। खूब हंसी के पटाखे छूट रहे थे। लोग खूब खुश थे और इसके बाद फिर सिक्कों की बौछार। और जब मां मुझे स्टेज से लिवाने के लिए आयी तो उसकी मौजूदगी पर लोगों ने जम के तालियां बजायीं। उस रात मैं अपनी जिंदगी में पहली बार स्टेज पर उतरा था और मां आखिरी बार।

जब नियति आदमी के भाग्य के साथ खिलवाड़ करती है तो उसके ध्यान में न तो दया होती है और न ही न्याय ही। मां के साथ भी नियति ने ऐसे ही खेल दिखाये। उसे उसकी आवाज फिर कभी वापिस नहीं मिली। जब पतझड़ के बाद सर्दियां आयीं तो हमारी हालत बद से बदतर हो गयी। हालांकि मां बहुत सावधान थी और उसने थोड़े-बहुत पैसे बचा कर रखे थे लेकिन कुछ ही दिन में ये पूंजी भी खत्म हो गयी। धीरे-धीरे उसके गहने और छोटी-मोटी चीजें बाहर का रास्ता देखने लगीं। ये चीजें घर चलाने के लिए गिरवी रखी जा रही थीं और इस पूरे अरसे के दौरान वह उम्मीद करती रही कि उसकी आवाज वापिस लौट आयेगी।

इस बीच हम तीन आरामदायक कमरों के मकान में से दो कमरों के मकान में और फिर एक कमरे के मकान में शिफ्ट हो चुके थे। हमारा सामान कम होता चला जा रहा था और हर बार हम जिस तरह के पड़ोस में रहने के लिए जाते, उसका स्तर नीचे आता जा रहा था।

तब वह धर्म की ओर मुड़ गयी थी। मुझे इसका कारण तो यह लगता है कि शायद उसे यह उम्मीद थी कि इससे उसकी आवाज वापिस लौट आयेगी। वह नियमित रूप से वेस्टमिन्स्टर ब्रिज रोड पर क्राइस्ट चर्च जाया करती और हर इतवार को मुझे बाख के आर्गन म्यूजिक के लिए बैठना पड़ता और पादरी एफ बी मेयेर की जोशीली तथा ड्रामाई आवाज को सुनना पड़ता जो गिरजे के मध्य भाग से घिसटते हुए पैरों की तरह आती प्रतीत होती। जरूर ही उनके भाषणों में अपील होती होगी क्योंकि मैं अक्सर मां को दबोच कर थाम लेता और चुपके से अपने आंसू पोंछ डालता। हालांकि इससे मुझे परेशानी तो होती ही थी।

मुझे अच्छी तरह से याद है उस गर्म दोपहरी में पवित्र प्रार्थना सभा की जब वहां भीड़ में से चांदी का एक ठंडा प्याला गुजारा गया। उस प्याले में स्वादिष्ट अंगूरों का रस भरा हुआ था। मैंने उसमें से ढेर सारा जूस पी लिया था और मां का मुझे रोकता-सा वह नम नरम हाथ और तब मैंने कितनी राहत महसूस की थी जब फादर ने बाइबल बंद की थी। इसका मतलब यही था कि अब प्रार्थनाएं शुरू होंगी और ईश वंदना के अंतिम गीत गाये जायेंगे।

मां जब से धर्म की शरण में गयी थी, वह थियेटर की अपनी सखियों से कभी-कभार ही मिल पाती। उसकी वह दुनिया अब छू मंतर हो चुकी थी और उसकी अब यादें ही बची थीं। ऐसा लगता था मानो हम हमेशा से ही इस तरह के दयनीय हालात में रहते आये थे। बीच का एक बरस तो तकलीफों के पूरे जीवन काल की तरह लगा था। हम अब बेरौनक धुंधलके कमरे में रहते थे। काम-धाम तलाशना बहुत ही दूभर था और मां को स्टेज के अलावा कुछ आता-जाता नहीं था, इससे उसके हाथ और बंध जाते थे। वह छोटे कद की, लालित्य लिये भावुक महिला थी। वह विक्टोरियन युग की ऐसी भयंकर विकट परिस्थितियों से जूझ रही थी जहां अमीरी और गरीबी के बीच बहुत बड़ी खाई थी। गरीब-गुरबा औरतों के पास हाथ का काम करने, मेहनत मजूरी करने के अलावा और कोई चारा नहीं था या फिर थी दुकानों वगैरह में हाड़-तोड़ गुलामी। कभी-कभार उसे नर्सिंग का काम मिल जाता था लेकिन इस तरह के काम भी बहुत दुर्लभ होते और ये भी बहुत ही कम अरसे के लिए होते। इसके बावजूद वह कुछ न कुछ जुगाड़ कर ही लेती। वह थियेटर के लिए अपनी पोशाकें खुद सीया करती थी इसलिए सीने-पिरोने के काम में उसका हाथ बहुत अच्छा था। इस तरह से वह चर्च के लोगों की कुछ पोशाकें सी कर कुछेक शिलिंग कमा ही लेती थी। लेकिन ये कुछ शिलिंग हम तीनों के गुजारे के लिए नाकाफी होते। पिता जी की दारूखोरी के कारण उन्हें थियेटर में काम मिलना अनियमित होता चला गया और इस तरह हर हफ्ते मिलने वाला उनका दस शिलिंग का भुगतान भी अनियमित ही रहता।

मां अब तक अपनी अधिकांश चीजें बेच चुकी थी। सबसे आखिर में बिकने के लिए जाने वाली उसकी वो पेटी थी जिसमें उसकी थियेटर की पोशाकें थीं। वह इन चीजों को अब तब इसलिए अपने पास संभाल कर रखे हुए थी कि शायद कभी उसकी आवाज वापिस लौट आये और उसे फिर से थियेटर में काम मिलना शुरू हो जाये। कभी-कभी वह ट्रंक के भीतर झांकती कि शायद

कुछ काम का मिल जाये। तब हम कोई मुड़ी-तुड़ी पोशाक या विग देखते तो उससे कहते कि वह इसे पहन कर दिखाये। मुझे याद है कि हमारे कहने पर उसने जज की एक टोपी और गाउन पहने थे और अपनी कमजोर आवाज में अपना एक पुराना सफल गीत सुनाया था। ये गीत उसने खुद लिखा था। गीत के बोल तुकबंदी लिये हुए थे और इस तरह से थे–

मैं हूं एक महिला जज
और मैं हूं एक अच्छी जज
मामलों के फैसले करती ईमानदारी से
पर आते ही नहीं मामले पास मेरे
मैं सिखाना चाहती हूं वकीलों को
एकाध काम की बात
क्या नहीं कर सकती औरत जात।

आश्चर्यजनक तरीके से तब वह गरिमापूर्ण लगने वाले नृत्य की भंगिमाएं दिखाने लगती। वह तब कसीदाकारी भूल जाती और हमें अपने पुराने सफल गीतों से और नृत्यों से तब तक खुश करती रहती जब तक वह थक कर चूर न हो जाती और उसकी सांस न उखड़ने लगती। तब वह बीती बातें याद करते लगती और हमें अपने नाटकों के कुछ पुराने पोस्टर दिखाती। एक पोस्टर इस तरह से था–

खासो-खास प्रदर्शन
नाजुक और प्रतिभा सम्पन्न
लिली हार्ले
गम्भीर हास्य की देवी,
बहुरूपिन और नर्तकी

जब वह हमारे सामने प्रदर्शन करती तो वह अपने खुद के मनोरंजक अंश तो दिखाती ही, दूसरी अभिनेत्रियों की भी नकल दिखाती जिन्हें उसने तथा कथित वैध थियेटरों में काम करते देखा था।

किसी नाटक को सुनाते समय वह अलग-अलग अंशों का अभिनय करके दिखाती। उदाहरण के लिए द' साइन ऑफ द' क्रॉस' में मर्सिया अपनी आंखों में अलौकिक प्रकाश भरे, शेरों को खाना खिलाने के लिए मांद वाले पिंजरे में जाती है। वह हमें विल्सन बैरट की ऊंची पोप जैसी आवाज में नकल करके दिखाती। वह छोटे कद का आदमी था इसलिए पांच इंच ऊंची हील वाले जूते

पहन कर घोषणा करता– "यह ईसाइयत क्या है, मैं नहीं जानता लेकिन मैं इतना जरूर जानता हूं कि..कि यदि ईसाइयत ने मर्सिया जैसी औरतें बनायी हैं तो रोम, नहीं, जगत ही इसके लिए पवित्रतम होगा।' इस अंश को हास्य की झलक के साथ करके दिखाती लेकिन उसमें बैरेट की प्रतिभा के प्रति सराहना भाव जरूर होता।

जिन व्यक्तियों में वास्तविक प्रतिभा थी, उन्हें पहचानने, मान देने में उसका कोई सानी नहीं था। चाहे फिर वह नायिका ऐलेन टेरी हो, या म्यूजिक हॉल की जो एल्विन, वह उनकी कला की व्याख्या करती। वह तकनीक की बारीक जानकारी रखती थी और थियेटर के बारे में ऐसे व्यक्ति की तरह बात करती थी जो थियेटर को प्यार करने वाले ही कर सकते हैं।

वह अलग-अलग किस्से सुनाती और उनका अभिनय करके दिखाती। उदाहरण के लिए, वह याद करती सम्राट नेपोलियन के जीवन का कोई प्रसंग–दबे पांव अपने पुस्तकालय में किसी किताब की तलाश में जाना और मार्शल नेय द्वारा रास्ते में घेर लिया जाना। मां ये दोनों ही भूमिकाएं अदा करती लेकिन हमेशा हास्य का पुट ले कर, 'महाशय, मुझे इजाजत दीजिये कि मैं आपके लिये ये किताब ला दूं। मेरा कद ऊंचा है।' और नेपोलियन यह कहते हुए खफा होते हुए गुर्राया 'ऊंचा या लम्बा?'

मां नेल ग्विन का विस्तार से अभिनय करके बताती कि वह किस तरह से महल की सीढ़ियों पर झुकी हुई है और उसकी बच्ची उसकी गोद में है। वह चार्ल्स द्वितीय को धमकी दे रही है, 'इस बच्ची को कोई नाम दो वरना मैं इसे जमीन पर पटक दूंगी।' और सम्राट चार्ल्स हड़बड़ी में सहमत हो जाते हैं, 'ठीक है, ठीक है, द' ड्यूक ऑफ अल्बांस।'

मुझे ओक्ले स्ट्रीट में तहखाने वाले एक कमरे के घर की वह शाम याद है। मैं बुखार उतरने के बाद बिस्तर पर लेटा आराम कर रहा था। सिडनी रात वाले स्कूल में गया हुआ था और मां और मैं अकेले थे। दोपहर ढलने को थी। मां खिड़की से टेक लगाये न्यू टेस्टामेंट पढ़ रही थी, अभिनय कर रही थी, और अपने अतुलनीय तरीके से उसकी व्याख्या कर रही थी। वह गरीबों और मासूम बच्चों के प्रति यीशू मसीह के प्रेम और दया के बारे में बता रही थी। शायद उसकी संवेदनाएं मेरे बुखार के कारण थीं, लेकिन उसने जिस शानदार और मन को छू लेने वाले ढंग से यीशू के नये अर्थ समझाये वैसे मैंने न तो आज तक सुने और न ही देखे ही हैं। मां उनकी सहिष्णुता और समझ के बारे में बता रही

थी, उसने उस महिला के बारे में बताया जिससे पाप हो गया था और उसे भीड़ द्वारा पत्थर मार कर सजा दी जानी थी, और उनके प्रति यीशू के शब्द, 'आप में से जिसने कभी पाप न किया हो वही आगे आ कर सबसे पहला पत्थर मारे।'

सांझ का धुंधलका होने तक वह पढ़ती रही। वह सिर्फ लैम्प जलाने की लिए ही उठी। तब उसने उस विश्वास के बारे में बताया जो यीशू मसीह ने बीमारों में जगाया था। बीमारों को बस, उनके चोगे की तुरपन को ही छूना होता था और वे चंगे हो जाते थे।

मां ने बड़े-बड़े पादरियों और महिला पादरियों की घृणा के बारे में बताया और बताया कि किस तरह से यीशू मसीह को गिरफ्तार किया गया था और वे किस तरह से पोंटियस के सामने शांत बने रहे थे। पोंटियस ने हाथ धोते हुए कहा था (मां ने बहुत ही शानदार अभिनय करके ये बताया),' मुझे इस आदमी में कोई खराबी ही नजर नहीं आती।' तब मां ने बताया कि किस तरह से उन लोगों ने यीशू को निर्वस्त्र कर डाला था और उसे जलील किया था और उसके सिर पर कांटों का ताज पहना दिया था, उसका मजाक उड़ाया था और उसके मुंह पर ये कहते हुए थूका था, 'ओ यहूदियों के राजा ..।'

जब वह ये सब सुना रही थी तो उसके गालों पर आंसू ढरके चले आ रहे थे। मां ने बताया कि किस तरह से साइमन ने क्रॉस ढोने में यीशू मसीह की मदद की थी और किस तरह भाव विह्वल हो कर यीशू ने उसे देखा था। मां ने बाराबास के बारे में बताया जो पश्चातापी था और क्रॉस पर उनके साथ ही मरा था। वह क्षमा मांग रहा था और यीशू कह रहे थे, 'आज तुम मेरे साथ स्वर्ग में होवोगे', और क्रॉस से अपनी मां की ओर देखते हुए यीशू ने कहा था, 'मां, अपने बेटे को देखो।' और उनकी अंतिम, मरते वक्त की पीड़ा भरी कराह, 'मेरे परम पिता, आपने मुझे क्षमा क्यों नहीं किया?'

और हम दोनों रो पड़े थे।

'तुमने देखा', मां कह रही थी, 'वे मानवता से कितने भरे हुए थे। हम सब की तरह उन्हें भी संदेह झेलना पड़ा।'

मां ने मुझे इतना भाव विह्वल कर दिया था कि मैं उसी रात मर जाना और यीशू से मिलना चाहता था। लेकिन मां इतनी उत्साहित नहीं थी, 'यीशू चाहते हैं कि पहले तुम जीओ और अपने भाग्य को यहीं पूरा करो।' उसने कहा था। ओक्ले स्ट्रीट के उस तहखाने के उस अंधेरे कमरे में मां ने मुझे उस ज्योति से भर दिया था जिसे विश्व ने आज तक जाना है और जिसने पूरी दुनिया को

एक से बढ़ कर एक कथा तत्त्व वाले साहित्य और नाटक दिये हैं– प्यार, दया और मानवता।

हम समाज के जिस निम्नतर स्तर के जीवन में रहने को मजबूर थे वहां ये सहज स्वाभाविक था कि हम अपनी भाषा-शैली के स्तर के प्रति लापरवाह होते चले जाते लेकिन मां हमेशा अपने परिवेश से बाहर ही खड़ी हमें समझाती और हमारे बात करने के ढंग, उच्चारण पर ध्यान देती रहती, हमारा व्याकरण सुधारती रहती और हमें यह महसूस कराती रहती कि हम खास हैं।

हम जैसे-जैसे और अधिक गरीबी के गर्त में उतरते चले गये, मैं अपनी अज्ञानता के चलते और बचपने में मां से कहता कि वह फिर से स्टेज पर जाना शुरू क्यों नहीं कर देती। मां मुस्कुराती और कहती कि वहां का जीवन नकली और झूठा है और कि इस तरह के जीवन में रहने से हम जल्दी ही ईश्वर को भूल जाते हैं। इसके बावजूद वह जब भी थियेटर की बात करती तो वह अपने आपको भूल जाती और उत्साह से भर उठती। यादों की गलियों में उतरने के बाद वह फिर से मौन के गहरे कूंए में उतर जाती और अपने सूई धागे के काम में अपने आपको भुला देती। मैं भावुक हो जाता क्योंकि मैं जानता था कि हम अब उस शानो-शौकत वाली जिंदगी का हिस्सा नहीं रहे थे। तब मां मेरी तरफ देखती और मुझे अकेला पा कर मेरा हौसला बढ़ाती।

सर्दियां सिर पर थीं और सिडनी के कपड़े कम होते चले जा रहे थे। इसलिए मां ने अपने पुराने रेशमी जैकेट में से उसके लिए एक कोट सी दिया था। उस पर काली और लाल धारियों वाली बांहें थीं। कंधे पर प्लीट्स थी और मां ने पूरी कोशिश की थी कि उन्हें किसी तरह से दूर कर दे लेकिन वह उन्हें हटा नहीं पा रही थी। जब सिडनी से वह कोट पहनने के लिए कहा गया तो वह रो पड़ा था, 'स्कूल के बच्चे मेरा ये कोट देख कर क्या कहेंगे?'

'इस बात की कौन परवाह करता है कि लोग क्या कहेंगे?' मां ने कहा था, 'इसके अलावा, ये कितना खास किस्म का लग रहा है।' मां का समझाने-बुझाने का तरीका इतना शानदार था कि सिडनी आज दिन तक नहीं समझ पाया है कि वह मां के फुसलाने पर वह कोट पहनने को आखिर तैयार ही कैसे हो गया था। लेकिन उसने कोट पहना था। उस कोट की वजह से और मां के ऊंची हील के सैंडिलों को काट-छांट कर बनाये गये जूतों से सिडनी के स्कूल में कई झगड़े हुए। उसे सब लड़के छेड़ते, 'जोसेफ और उसका रंग-बिरंगा कोट।' और मैं, मां की पुरानी लाल लम्बी जुराबों में से काट-कूट कर बनायी

गयी जुराबें (लगता जैसे उनमें प्लीटें डाली गयी हैं।) पहन कर जाता तो बच्चे छेड़ते, 'आ गये सर फ्रांसिस ड्रेक।'

इस भयावह हालात के चरम दिनों में मां को आधी सीसी सिर दर्द की शिकायत शुरू हुई। उसे मजबूरन अपना सीने-पिरोने का काम छोड़ देना पड़ा। वह कई-कई दिन तक अंधेरे कमरे में सिर पर चाय की पत्तियों की पट्टियां बांधे पड़ी रहती। हमारा वक्त खराब चल रहा था और हम गिरजा घरों की खैरात पर पल रहे थे, सूप की टिकटों के सहारे दिन काट रहे थे और मदद के लिए आये पार्सलों के सहारे जी रहे थे। इसके बावजूद, सिडनी स्कूल के घंटों के बीच अखबार बेचता, और बेशक उसका योगदान ऊंट के मुंह में जीरा ही होता, ये उस खैरात के सामान में कुछ तो जोड़ता ही था। लेकिन हर संकट में हमेशा कोई न कोई क्लाइमेक्स भी छुपा होता है। इस मामले में ये क्लाइमेक्स बहुत सुखद था।

एक दिन जब मां ठीक हो रही थी, चाय की पत्ती की पट्टी अभी भी उसके सिर पर बंधी थी, सिडनी उस अंधियारे कमरे में हांफता हुआ आया और अखबार बिस्तर पर फेंकता हुआ चिल्लाया, 'मुझे एक बटुआ मिला है।' उसने बटुआ मां को दे दिया। जब मां ने बटुआ खोला तो उसने देखा, उसमें चांदी और सोने के सिक्के भरे हुए थे। मां ने तुरंत उसे बंद कर दिया और उत्तेजना से वापिस अपने बिस्तर पर ढह गयी।

सिडनी अखबार बेचने के लिए बसों में चढ़ता रहता था। उसने बस के ऊपरी तल्ले पर एक खाली सीट पर बटुआ पड़ा हुआ देखा। उसने तुरंत अपने अखबार उस सीट के ऊपर गिरा दिये और फिर अखबारों के साथ पर्स भी उठा लिया और तेजी से बस से उतर कर भागा। एक बड़े से होर्डिंग के पीछे, एक खाली जगह पर उसने बटुआ खोल कर देखा और उसमें चांदी और तांबे के सिक्कों का ढेर पाया। उसने बताया कि उसका दिल बल्लियों उछल रहा था और और वह बिना पैसे गिने ही घर की तरफ भागता चला आया।

जब मां की हालत कुछ सुधरी तो उसने बटुए का सारा सामान बिस्तर पर उलट दिया। लेकिन बटुआ अभी भी भारी था। उसके बीच में भी एक जेब थी। मां ने उस जेब को खोला और देखा कि उसके अंदर सोने के सात सिक्के छुपे हुए थे। हमारी खुशी का ठिकाना नहीं था। ईश्वर का लाख-लाख शुक्र कि बटुए पर कोई पता नहीं था। इसलिए मां की झिझक थोड़ी कम हो गयी थी। हालांकि उस बटुए के मालिक के दुर्भाग्य के प्रति थोड़ा-सा अफसोस जताया गया था,

अलबत्ता, मां के विश्वास ने तुरंत ही इसे हवा दे दी कि ईश्वर ने इसे हमारे लिए एक वरदान के रूप में ऊपर से भेजा है।

मां की बीमारी शारीरिक थी अथवा मनोवैज्ञानिक, मैं नहीं जानता। लेकिन वह एक हफ्ते के भीतर ही ठीक हो गयी। जैसे ही वह ठीक हुई, हम छुट्टी मनाने के लिए समुद्र के दक्षिण तट पर चले गये। मां ने हमें ऊपर से नीचे तक नये कपड़े पहनाये।

पहली बार समुद्र को देख मैं जैसे पागल हो गया था। जब मैं उस पहाड़ी गली में तपती दोपहरी में समुद्र के पास पहुंचा तो मैं ठगा-सा रह गया। हम तीनों ने अपने जूते उतारे और पानी में छप-छप करते रहे। मेरे तलुओं और मेरे टखनों को गुदगुदाता समुद्र का गुनगुना पानी और मेरे पैरों के तले से सरकती नम, नरम और भुरभुरी रेत.. मेरे आनंद का ठिकाना नहीं था।

वह दिन भी क्या दिन था। केसरी रंग का समुद्र तट, उसकी गुलाबी और नीली डोलचियां और उस पर लकड़ी के बेलचे। उसके सतरंगी तंबू और छतरियां, लहरों पर इतराती कश्तियां, और ऊपर तट पर एक तरह करवट ले कर आराम फरमाती कश्तियां जिनमें समुद्री सेवार की गंध रची-बसी थी और वे तट। इन सबकी यादें अभी भी मेरे मन में चरम उत्तेजना से भरी हुई लगती हैं।

1957 में मैं दोबारा साउथ एंड तट पर गया और उस संकरी पहाड़ी गली को खोजने का निष्फल प्रयास करता रहा जिससे मैंने समुद्र को पहली बार देखा था लेकिन अब वहां उसका कोई नामो-निशान नहीं था। शहर के आखिरी सिरे पर वहां जो कुछ था, पुराने मछुआरों के गांव के अवशेष ही दीख रहे थे जिसमें पुराने ढब की दुकानें नजर आ रही थीं। इसमें अतीत की धुंधली सी सरसराहट छुपी हुई थी। शायद यह समुद्री सेवार की और टार की महक थी।

बालू घड़ी में भरी रेत की तरह हमारा खजाना चुक गया। मुश्किल समय एक बार फिर हमारे सामने मुंह बाये खड़ा था। मां ने दूसरा रोजगार ढूंढने की कोशिश की लेकिन कामकाज कहीं था ही नहीं। किस्तों की अदायगी का वक्त हो चुका था। नतीजा यही हुआ कि मां की सिलाई मशीन उठवा ली गयी। पिता की तरफ से जो हर हफ्ते दस शिलिंग की राशि आती थी, वह भी पूरी तरह से बंद हो गयी।

हताशा के ऐसे वक्त में मां ने दूसरा वकील करने की सोची। वकील ने जब देखा कि इसमें से मुश्किल से ही वह फीस भर निकाल पायेगा, तो उसने मां को सलाह दी कि उसे लैम्बेथ के दफ्तर के प्राधिकारियों की मदद लेनी

चाहिये ताकि अपने और अपने बच्चों के पालन-पोषण के लिए पिता पर मदद के लिए दबाव डाला जा सके।

और कोई उपाय नहीं था। उसके सिर पर दो बच्चों को पालने का बोझ था।

उसका खुद का स्वास्थ्य खराब था। इसलिए उसने तय किया कि हम तीनों लैम्बेथ के यतीम खाने (वर्कहाउस) में भरती हो जायें

अध्याय 2

हालांकि हम यतीम खाने यानी वर्कहाउस में जाने की जिल्लत के बारे में जानते थे लेकिन जब मां ने हमें वहां के बारे में बताया तो सिडनी और मैंने सोचा कि वहां रहने में कुछ तो रोमांच होगा ही और कम से कम इस दमघोंटू कमरे में रहने से तो छुटकारा मिलेगा। लेकिन उस तकलीफ से भरे दिन मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था कि क्या होने जा रहा है जब तक हम सचमुच यतीम खाने के गेट तक पहुंच नहीं गये। तब जा कर उसकी दुखदायी दुविधा का हमें पता चला। वहां जाते ही हमें अलग कर दिया गया। मां एक तरफ महिलाओं वाले वार्ड की तरफ ले जायी गयी और हम दोनों को बच्चों वाले वार्ड में भेज दिया गया।

मैं मुलाकात के पहले ही दिन की दिल को छू लेने वाली उदासी को भला कैसे भूल सकता हूं। यतीम खाने के कपड़ों में लिपटी मां को मुलाकातियों के कमरे की ओर जाते हुए देखना। वह कितनी बेचारी और परेशान हाल दिखायी दे रही थी। एक ही सप्ताह में उसकी उम्र ज्यादा नजर आने लगी थी और वह दुबली हो गयी थी। लेकिन उसका चेहरा हमें देखते ही दमकने लगा था। सिडनी और मैं रोने लगे जिससे मां को भी रोना आ गया और उसके गालों पर बड़े-बड़े आंसू ढरकने लगे। आखिर उसने अपने आप को संभाला और हम तीनों एक खुरदरी बेंच पर जा बैठे। हम दोनों के हाथ उसकी गोद में थे और वह धीरे-धीरे उन्हें थपका रही थी। वह हमारे घुटे हुए सिर देख कर मुस्कुरायी और जैसे सांत्वना देते हुए थपकियां सी देने लगी। हमें बताने लगी कि हम जल्दी ही एक बार फिर एक साथ रहने लगेंगे। अपने लबादे में से उसने नारियल की एक कैंडी निकाली जो उसने एक नर्स के कफ को लेस लगा कर कमाये पैसों से खरीदी थी। जब हम अलग हुए तो सिडनी लगातार भरे मन से उससे कहता रहा कि उसकी उम्र कितनी ज्यादा लगने लगी है।

सिडनी और मैंने जल्दी ही अपने आपको यतीम खाने के माहौल के हिसाब से ढाल लिया लेकिन उदासी की काली छाया हमेशा हमारे ऊपर मंडराती रहती थी। मुझे बहुत ही कम घटनाएं याद हैं, लेकिन दूसरे बच्चों के साथ एक लम्बी-सी मेज पर बैठ कर दोपहर का भोजन करना अच्छा लगता था और हम इसकी राह देखा करते थे। इसका मुखिया यतीम खाने का ही एक निवासी हुआ करता था। यह व्यक्ति पिचहत्तर बरस का एक बूढ़ा आदमी था। उसका चेहरा गम्भीरता ओढ़े रहता था। उसकी दाढ़ी सफेद थी और उसकी आंखों में उदासी भरी होती थी। उसने मुझे अपने पास बैठने के लिए चुना क्योंकि मैं ही वहां सबसे छोटा था और जब तक उन लोगों ने मेरे सिर की घुटाई नहीं कर दी, मेरे बहुत ही सुंदर घुंघराले बाल हुआ करते थे। बूढ़ा आदमी मुझे अपना 'शेर' कहा करता था और बताता कि जब मैं बड़ा हो जाऊंगा तो मैं एक टॉप हैट लगाया करूंगा और उसकी गाड़ी में पीछे हाथ बांधे बैठा करूंगा। वह मुझे जिस तरह का स्नेह देता, मैं उसे बहुत पसंद करने लगा था। लेकिन अभी एकाध दिन ही बीता था कि वहां एक और छोटा-सा लड़का आया और उस बूढ़े के पास मेरी वाली जगह पर बैठने लगा। लेकिन जब मैंने पूछा तो उसने मौज में आ कर बताया कि हमेशा छोटे और घुंघराले बालों वाले लड़के को ही वरीयता दी जाती है।

तीन सप्ताह के बाद हमें लैम्बेथ यतीम खाने से यतीमों और असहायों के हॉनवैल स्कूल में भेज दिया गया। ये स्कूल लंदन से कोई बारह मील दूर था। घोड़ों द्वारा खींची जाने वाले बेकरी वैन में यह बहुत ही रोमांचकारी यात्रा थी और इन परिस्थितियों में सुखद भी क्योंकि हॉनवैल के आस-पास का नजारा उन दिनों बहुत ही खूबसूरत हुआ करता था। वहां शाहबलूत के दरख्त थे, पकते गेहूं से भरे खेत थे और फलों से खूब लदे फलोद्यान थे और तब से खुले इलाकों में बरसात के बाद की खूब तेज और माटी की सोंधी-सोंधी खुशबू मुझे हमेशा हॉनवैल की याद दिला जाती है।

वहां पहुंचने पर हमें अनुमति वाले वार्ड के हवाले कर दिया गया और विधिवत स्कूल में डालने से पहले हमें डाक्टरी और मानसिक निगरानी में रखा गया। इसका कारण यह था कि तीन या चार सौ बच्चों में अगर एक भी ऐसा बच्चा आ गया जो सामान्य न हो या बीमार वगैरह हो तो ये स्कूल के स्वास्थ्य के लिए खराब होता ही, खुद बच्चे को भी विकट हालत से गुजरना पड़ सकता था।

शुरू के कुछ दिनों तक तो मैं खोया-खोया सा रहा। मेरी हालत बहुत ही खराब थी। इसका कारण यह था कि यतीम खाने में तो मां को मैं हमेशा अपने आस-पास महसूस करता था और इससे मुझे बहुत सुकून मिलता था लेकिन हॉनवैल में आने के बाद यही लगता था कि हम एक दूसरे से मीलों दूर हो गये हैं। सिडनी और मेरा दर्जा बढ़ा दिया गया और हमें अनुमति वाले वार्ड से निकाल कर विधिवत स्कूल में डाल दिया गया। यहां हमें एक दूसरे से अलग कर दिया गया। सिडनी बड़े बच्चों के साथ जाने लगा और मैं शिशुओं के साथ। हम अलग-अलग ब्लाकों में सोते थे और एक-दूसरे से कभी-कभार ही मिल पाते। मेरी उम्र छः बरस से कुछ ही ज्यादा थी और मैं तनहा था। ये बात मुझे खासी परेशान करती। खास तौर पर गर्मियों की रात, सोते समय प्रार्थना करते समय जब मैं रात के सोने की कमीजें पहने वार्ड के बीचों-बीच दूसरे बीस नन्हें मुन्ने बच्चों के साथ घुटनों के बल झुक कर प्रार्थना करता और दूर डूबते सूर्य को और ऊंची नीची पहाड़ियों की तरफ लम्बोतरी खिड़की में से देखता और जब हम सब भर्राये गले से बेसुरी आवाज में गाते तो मैं अपने आपको इससे सब से अलग-थलग पाता।

साथ दो मेरा, रात तेजी से गहराती है
अंधियारी होता जाता है घना, प्रभु साथ दो मेरा
जब और मददगार रह जायें पीछे और आराम हो जाये दुश्वार
ओ निर्बल के बल, साथ दो मेरा

ये तभी होता कि मैं अपने-आपको पूरी तरह हताश पाता। हालांकि मैं प्रार्थना के बोल नहीं समझता था, लेकिन ये धुन और धुंधलका मुझे उदासी से भर जाते।

लेकिन तब हमारी खुशी और आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब दो महीने के भीतर ही मां ने हमारी रिहाई का बंदोबस्त कर दिया था और हमें एक बार फिर से लंदन और लैम्बेथ यतीम खाने में भेज दिया गया। मां यतीम खाने के गेट पर अपने खुद के कपड़े पहने हमारी राह देख रही थी। उसने रिहाई के लिए आवेदन सिर्फ इसीलिए दिया था कि वह एक दिन अपने बच्चों के साथ गुजारना चाहती थी और उसकी इच्छा थी कि दो-चार घंटे बाहर गुजार कर फिर उसी दिन वापिस लौट आये। मां चूंकि यतीम खाने में ही रह रही थी इसलिए यह प्रपंच ही एक मात्रा तरीका बचा था उसके पास कि दिन हमारे साथ गुजार सके।

हमारे भीतर जाने से पहले ही हमारे निजी कपड़े हमसे ले लिये गये थे और उन्हें गर्म पानी में खंगाल दिया गया था। अब ये कपड़े हमें बिना इस्त्री किये लौटा दिये गये। जब हम यतीम खाने के गेट से बाहर निकले तो मां, सिडनी और मैं, तीनों ही मुचड़े हुए कपड़ों में नमूने नजर आ रहे थे। एकदम सुबह का वक्त था और हमें कहीं भी नहीं जाना था इसलिए हम केनिंगटन पार्क की तरफ चल दिये। पार्क तकरीबन एक मील दूर था। सिडनी के पास नौ पेंस थे जो उसने रुमाल में गांठ बांध कर रखे हुए थे। इसलिए हमने आधा पौंड ब्लैक चेरी ली और पूरी सुबह पार्क में एक बेंच पर बैठ कर चेरी खाते हुए गुजार दी। सिडनी ने अखबार के पुराने कागजों को मोड़-तोड़ कर उसे सुतली से कस कर बांध दिया और हम तीनों काफी देर तक इस काम चलाऊ गेंद से पकड़ा-पकड़ी खेलते रहे। दोपहर के वक्त हम एक कॉफी शॉप में गये और अपने बाकी सारे पैसों से दो पेनी का केक, एक पैनी की सूखी, नमक लगी मछली और अध पेनी की दो कप चाय खरीद कर खर्च कर डाले। हमने ये चीजें मिल बांट कर खायीं। इसके बाद हम फिर पार्क में वापिस लौट आये। इसके बाद मैं और सिडनी फिर से खेलते रहे और मां क्रोशिया ले कर बैठ गयी।

दोपहर के वक्त हम वापिस यतीम खाने की तरफ चल दिये क्योंकि मां बहुत ही बेशरमी से बोली कि हम चाय के वक्त तक जरूर पहुंच जायेंगे। वहां के अफसर लोग बहुत ही खड़ूस थे क्योंकि इसका मतलब होता कि हमें फिर से उन सारी प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता। हमारे कपड़े गर्म पानी में खंगाले जाते और सिडनी और मुझे हॉनवैल लौटने से पहले यतीम खाने में और वक्त गुजारना पड़ता। हां, इससे हमें मां से एक बार फिर मिलने का मौका मिल जाता।

लेकिन इस बार हम हॉनवैल में लगभग एक बरस तक रहे। यह बरस बहुत ही रचनात्मक था। मैंने स्कूल जाना शुरू किया और मुझे अपना नाम लिखना सिखाया गया,' चौप्लिन।' ये शब्द मुझे बहुत आकर्षित करते और मुझे लगता - ये ठीक मेरी ही तरह हैं।

हॉनवैल स्कूल दो हिस्सों में बंटा हुआ था। एक हिस्सा लड़कों के लिए था और दूसरा लड़कियों के लिए। शनिवार की दोपहर स्नानघर नन्हें मुन्नों के लिए आरक्षित रहता और बड़ी लड़कियां उन्हें नहलाती। हां, ये बातें उस वक्त से पहले की हैं जब मैं सात बरस का नहीं हुआ था। और एक तरह की नाजुक मिजाजी वाली लज्जा इस तरह के अवसरों के साथ जुड़ी रहती। चौदह बरस की

युवा लड़की मेरे पूरे शरीर पर तौलिया रगड़ रही हो तो झेंप तो होनी ही थी। सचेत झेंप के ये मेरे पहले मौके थे।

सात बरस की उम्र में मुझे नन्हें मुन्ने बच्चों के वार्ड में से स्थानांतरित करके बड़े बच्चों के वार्ड में भेज दिया गया। यहां बच्चों की उम्र सात से चौदह बरस के बीच थी। अब मैं बड़े बच्चों की सभी गतिविधियों में भाग ले सकता था। ड्रिल, एक्सरसाइज और हफ्ते में दो बार स्कूल के बाहर हम नियमित रूप से सैर को जाते।

हालांकि हॉवेल में हमारी अच्छी तरह से देखभाल की जाती थी लेकिन फिर भी माहौल पर मुर्दनगी छायी रहती। वहां की हवा में ही उदासी थी। उन गांवों की गलियों में से हम सैकड़ों बच्चे एक के पीछे एक चलते। मैं सैर के उन अवसरों को कितना अधिक नापसंद करता था, और उन गांवों को, जिन में से हम गुजर कर जाया करते थे, उन स्थानीय लोगों का हमें घूर-घूर कर देखना। हमें 'बूबी हैच के बाशिंदे' के नाम से पुकारा जाता था। ये यतीम खाने के लिए बोलचाल का शब्द था।

बच्चों के खेल का मैदान लगभग एक एकड़ लम्बा-चौड़ा था। इसमें लम्बे-चौड़े पत्थर जड़े हुए थे। इसके चारों तरफ एक मंजिला ईंट की इमारतें थीं जिनमें दफ्तर, भंडार घर, डॉक्टर का एक औषधालय, दांतों के डॉक्टर का कमरा और बच्चों के कपड़ों के लिए अलमारियां थीं। अहाते के आखिरी सिरे पर एक अंधेरा कमरा था। उसमें इन दिनों चौदह बरस के एक छोकरे को बंद करके रखा गया था। लड़कों के अनुसार वह लड़का आफत की पुड़िया था। एक गया गुजरा चरित्र। उसने दूसरी मंजिल की खिड़की से कूद कर स्कूल से भाग जाने की कोशिश की थी और वहां से छत पर चढ़ गया था। जब स्टाफ के लोग उसके पीछे चढ़े तो उसने उन पर चीजें फेंक कर मारनी शुरू कर दीं और उन पर शाहबलूत फेंके। ये किस्सा तब हुआ जब हम नन्हें-मुन्ने सो रहे थे। अगली सुबह हमें इस किस्से का पूरा का पूरा हिसाब-किताब बड़े बच्चों ने सुनाया था।

इस तरह की बड़ी हरकतों के लिए हर शुक्रवार को बड़े वाले जिमनाशियम में दंड मिला करता था। ये एक साठ फुट लम्बा और चालीस फुट चौड़ा अंधियारा-सा हॉल था। इसकी छत ऊंची थी और ऊपर की कड़ियों तक रस्सियां लटकी हुई थीं। शुक्रवार की सुबह, सात से चौदह बरस के बीच की उम्र के दो या तीन सौ बच्चे प्रवेश करते और वे मिलिटरी के जवानों की तरह आते, और स्क्वायर के तीनों तरफ खड़े हो जाते। सबसे दूर वाले सिरे पर, यानी

चौथी तरफ एक लम्बी-सी स्कूली मेज के पीछे शरारती बच्चे अपने-अपने अपराध की सजा सुनने और सजा पाने के लिए एकत्र होते। ये मेज आर्मी वालों की खाने की मेज जितनी लम्बी थी। डेस्क के सामने तथा दायीं तरफ एक ईजल थी जिस पर हाथों में बांधने वाले स्ट्रैप लटकते रहते और फ्रेम से एक टहनी झूलती रहती।

छोटे-मोटे अपराधों के लिए बच्चे को लम्बी मेज पर लिटा दिया जाता। बच्चे का चेहरा नीचे की तरफ होता और उसके पैर एक सार्जेंट पट्टों से कस देता। तब दूसरा सार्जेंट आता और बच्चे की कमीज को उसकी पतलून में से खींच कर बाहर निकाल देता और उसके सिर के ऊपर की तरफ कर देता, और उसकी पतलून को कस कर खींचता।

एक थे कैप्टन हिन्ड्रम। नेवी से रिटायर हुए शख्स। वजन उनका रहा होगा कोई दो सौ पौंड। उनका एक हाथ पीछे रहता और दूसरे हाथ में वे मारने के लिए छड़ी थामे रहते। छड़ी की मोटाई होती हाथ के अंगूठे के बराबर और लम्बाई कोई चार फुट। वे तन कर खड़े हो जाते।

पिटाई के लिए कम से कम तीन छड़ियों का और अधिकतम छः का प्रावधान था। यदि दोषी को तीन से ज्यादा छड़ियों की मार पड़ती तो उसकी चीखें दिल दहला देने वाली होतीं। कई बार ऐसा भी होता कि वह आश्चर्यजनक रूप से शांत रहता या बेहोश ही हो चुका होता। ये मार आदमी को अधमरा कर देने वाली होती इसलिए शिकार को तो अक्सर ही एक तरफ ले जाना पड़ता और उसे जिमनाशियम में ले जा कर लिटाना पड़ता, जहां उसे दर्द कम होने तक कम से कम दस मिनट तक तिलमिलाना और दर्द के मारे ऐंठना पड़ता था। दर्द कम होने पर उसके चूतड़ों पर धोबन की उंगलियों की तरह तीन चौड़ी धारियां बन चुकी होतीं।

भूर्ज का मामला अलग था। तीन संटियां खाने के बाद लड़के को दो सार्जेंट सहारा कर इलाज के लिए सर्जरी में ले जाते।

लड़के यही सलाह देते कि कोई भी आरोप लगने पर मना मत करो, बेशक आप निरपराध हों, क्योंकि दोष सिद्ध हो जाने पर आपको अधिकतम मार पड़ेगी। आम तौर पर लड़के निर्दोष होने पर भी अपनी जुबान नहीं खोलते थे और चुपचाप मार खा लेते थे।

अब मैं सात बरस का हो चला था और बड़े बच्चों के सैक्शन में था। मुझे याद है जब मैंने पहली बार इस तरह की पिटाई देखी थी। मैं शांत खड़ा हुआ था और मेरा दिल तेजी से धड़कना शुरू हो गया जब मैंने अधिकारियों को भीतर आते देखा। डेस्क के पीछे वह जांबाज बहादुर था जिसने स्कूल से भाग जाने की कोशिश की थी। डेस्क के पीछे से हमें मुश्किल से उसका सिर और कंधे ही नजर आ रहे थे। वह एकदम पिद्दी-सा नजर आ रहा था। उसका चेहरा पतला, लम्बोतरा और आंखें बड़ी थीं। वह बहुत छोटा-सा लगता था।

प्रधान अध्यापक ने धीमे स्वर में आरोप पत्र पढ़ा और पूछा, 'दोषी या निर्दोष?'

हमारे जांबाज हीरो ने कोई जवाब नहीं दिया लेकिन सीधे उनकी आंखों में देखता रहा। इसके बाद उसे ईजल पर ले जाया गया और चूंकि वह जरा सा ही था, उसे साबुन की एक पेटी पर खड़ा कर दिया गया ताकि उसकी कलाइयों में पट्टे बांधे जा सकें। उसे भूर्ज की छड़ी से तीन बार पीटा गया और फिर उसे सर्जरी के लिए ले जाया गया।

गुरुवार के दिन खेल के मैदान में एक बिगुल बजता और हम खेलते हुए जहां के तहां मूर्तियों की तरह जड़ खड़े हो जाते। तब कैप्टन हिन्ड्रम एक मेगाफोन के जरिये उन छोकरों के नाम पुकारते जिन्हें शुक्रवार को दंड भोगने के लिए हाजिर होना है।

मेरी हैरानी का ठिकाना न रहा जब एक गुरुवार मेरा नाम पुकारा गया। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि मैंने ऐसा क्या कर डाला होगा। फिर भी किसी नामालूम कारण से मैं रोमांचित था। शायद इसलिए कि मैं इस नाटक के केन्द्र में होने जा रहा था। ट्रायल के दिन मैं आगे की तरफ बढ़ गया। हैड मास्टर ने पूछा, 'तुम पर आरोप है कि तुमने लैट्रिन को आग लगायी।'

यह सच नहीं था। कुछ छोकरों ने पत्थर के फर्श पर कुछ कागज जला डाले थे और संयोग से मैं उस वक्त लैट्रिन का इस्तेमाल करने के लिए वहां जा पहुंचा। लेकिन आग जलाने में मेरी कोई भूमिका नहीं थी।

'तुम दोषी हो या नहीं?'

मैं नर्वस हो गया था और अपने नियंत्रण से बाहर की ताकत में मैं चिल्लाया, 'दोषी।' न तो मैंने प्रायश्चित महसूस किया और न ही अन्याय की भावना ही महसूस की लेकिन एक तरह का भयमुक्त रोमांच मुझे लगा जब मुझे डेस्क के पास ले जाया गया और मेरे चूतड़ों पर तीन संटियां फटकारी गयीं। दर्द

इतना जान लेवा था कि मेरी तो सांस ही थम गयी। लेकिन मैं चिल्लाया या रोया नहीं और हालांकि मैं दर्द के मारे अधमरा हो गया था और आराम करने के लिए चटाई पर ले जाया गया था, मैं अपने आपको पराक्रम के साथ विजेता समझ रहा था।

सिडनी तो रसोई में काम कर रहा था, उस बेचारे को सजा के दिन तक इसके बारे में कुछ पता ही नहीं चला और उसे दूसरों के साथ जिम में लाया गया तो वह मुझे सजा वाली मेज पर औंधे लेटे और सिर लटकाये देख कर हैरानी से दंग रह गया था। उसे झटका लगा था। उसने बाद में मुझे बताया था कि जब उसने मुझे चूतड़ों पर तीन बेंत खाते देखा था तो वह गुस्से के मारे रो पड़ा था।

छोटा भाई अपने बड़े भाई को 'भैया' कहकर बुलाता था तो उसमें एक तरह की गर्व की भावना भर जाती थी और एक सुरक्षा का भी अहसास होता था। मैं अक्सर डाइनिंग रूम से बाहर आते समय अपने इस 'बड़े भैया' को देखा करता था। वह रसोई में काम करता था इसलिए अक्सर मेरे हाथ में ढेर सारे मक्खन के साथ एक बेड स्लाइस चुपके से सरका देता था। मैं इसे अपनी जर्सी में छुपाकर बाहर ले आता और एक अन्य छोकरे के साथ मिल-बांट कर खा लेता। ऐसा नहीं था कि हमें भूख लगी होती थी, दरअसल मक्खन का इतना बड़ा लोंदा एक असाधारण विलासिता की बात होती थी। लेकिन यह ऐय्याशी भी बहुत ज्यादा दिन तक नहीं चली क्योंकि उसे हॉनवेल छोड़कर एक्समाउथ ट्रेनिंग शिप पर जाना पड़ा।

यतीम खाने में रहने वाले लड़कों को ग्यारह बरस की उमर में विकल्प दिया जाता था कि वे जलसेना या थलसेना, दोनों में से कोई एक चुन लें। यदि वह जल सेना पसन्द करे तो उसे एक्समाउथ पर भेज दिया जाता था, हालांकि यह अनिवार्य नहीं था लेकिन सिडनी तो सागर की विराटता में रह कर अपना जीवन बनाना चाहता था और एक दिन वह मुझे हॉनवेल में अकेला छोड़कर चला गया।

बच्चों का अपने बालों से खास तरह का जुड़ाव होता है। जब उनके बाल पहली बार काटे जाते हैं तो वे बुरी तरह से रोते और छटपटाते हैं। चाहे बाल घने उगें, सीधे हों या घुंघराले हों, उन्हें ऐसा ही लगता है कि मानो उनसे उनके व्यक्तित्त्व का कोई हिस्सा अलग किया जा रहा हो।

हॉनवेल में दाद, रिंगवार्म की महामारी फैली हुई थी। यह बीमारी छूत की बीमारी है और बहुत ही तेजी से फैलती है। इसलिए जो भी बच्चा इसकी चपेट

में आता था उसे पहली मंजिल पर एक अलग कमरे में रहना पड़ता था, जहां से खेल का मैदान नजर आता था। अक्सर हम खिड़कियों में से देखते कि वे दीन-हीन बच्चे बड़ी हसरत भरी निगाहों से हमारी ओर टकटकी लगाए देखते रहते थे। उनके घुटे हुए सिरों पर आयोडिन के भूरे चकत्ते नजर आते। उन्हें देखना बहुत ही दिल दहला देने वाला होता और हम उनकी तरफ बहुत ही घृणापूर्वक देखते।

इसलिए जैसे ही एक दिन अचानक ही एक नर्स ने डाइनिंग हाल में मेरे सिर पर हाथ रखा और बालों में उंगलियां फिराने के बाद घोषणा की कि मेरे सिर में दाद हो गयी है तो मैं सकते में आ गया और बुक्का फाड़ कर रो पड़ा।

इलाज में हफ्तों लग गये। लगता था, समय ठहर गया है। मेरा सिर मूंड दिया गया था और मैं रुई धुनने वालों की तरह हर समय सिर पर एक रुमाल बांधे रहता था। बस, मैं एक ही काम नहीं करता था और वो ये कि कभी भी खिड़की से नीचे झांक कर नीचे खड़े लड़कों की तरफ नहीं देखता था, क्योंकि मैं जानता था कि वे लड़के ऊपर फंसे बच्चों को किस हिकारत भरी निगाह से देखते थे।

मेरी बीमारी के दौरान मां मुझसे मिलने आयी। उसने कुछ जुगत भिड़ा कर हमें यतीम खाने से बाहर निकालने का रास्ता निकाल लिया था और अब हम लोगों के लिए एक बार फिर अपना घर बसाना चाहती थी। उसकी मौजूदगी फूलों के गुलदस्ते की तरह थी। ताजगी और स्नेह की महक से भरी हुई। उसे इस तरह देख कर मुझे अपनी गंदी और बेतरतीब हालत पर और घुटे सिर पर आयोडिन लगा देख कर अपने आप पर शर्म आयी।

नर्स ने मां से कहा, 'इसके गंदे मुंह की वजह से इस पर नाराज न हों।'

मां हँसी और मुझे याद है कि किस तरह से ये कहते हुए उसने मुझे अपने सीने में भींच लिया था और चूम लिया था, 'तेरी इस सारी गंदगी के बावजूद मैं तुझे प्यार करती हूं मेरे लाल।'

इसके तुरंत बाद ही सिडनी एक्समाउथ पर चला गया और मैंने हॉनवेल छोड़ दिया ताकि मैं अपनी मां के पास रह सकूं। उसने केनिंगटन रोड के पीछे वाली गली में एक कमरा किराये पर ले लिया था और कुछ दिन तक तो वह हमारा भरण-पोषण करने की हालत में रही। थोड़े ही दिन बीते थे कि हम एक बार फिर यतीम खाने के दरवाजे पर खड़े थे। हमारे इस तरह से वहां वापिस जाने के पीछे कारण ये थे कि मां कोई ढंग का रोजगार तलाश नहीं पायी थी

और थियेटर में पिता जी के दिन खराब चल रहे थे। इस थोड़े से अरसे के दौरान हम पिछवाड़े की गलियों के एक कमरे से दूसरे कमरे में शिफ्ट होते रहे। ये गोटियों के खेल की तरह था और अपनी आखिरी चाल के बाद हमने खुद को फिर से यतीम खाने में पाया।

अलग ही अलग रहते हुए हमें दूसरे यतीम खाने में भेज दिया गया और वहां से हमें नोरवुड स्कूल भेज दिया गया। यह स्कूल हॉनवेल के मुकाबले बेहतर था। यहां की पत्तियां गहरी हरी और दरख्त ज्यादा ऊंचे थे। शायद इस ग्रामीण इलाके में भव्यता तो ज्यादा थी लेकिन परिवेश मायूसी से भरा हुआ था।

एक दिन की बात, सिडनी फुटबाल खेल रहा था। तभी दो नर्सों ने उसे खेल से बाहर बुलाया और उसे बताया कि तुम्हारी मां पागल हो गई है, उसे केनहिल के पागलखाने में भेजा गया है। सिडनी ने जब यह खबर सुनी तो किसी भी किस्म की प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की और वापिस जाकर अपने खेल में मशगूल हो गया। लेकिन खेल खत्म होते ही वह एक सुनसान कोने में गया और फूट-फूट कर रोया।

सिडनी ने जब मुझे यह खबर दी तो मैं यकीन ही नहीं कर पाया। मैं रोया तो नहीं लेकिन पागल कर देने वाली उदासी ने मुझे घेर लिया। उसके साथ ऐसा क्यों हुआ। माँ जो इतनी खुशमिजाज और दिल की साफ थी, भला पागल कैसे हो सकती है। मोटे तौर पर मैंने यही सोचा कि माँ ने जान-बूझ कर अपने दिमाग के दरवाजे बंद कर दिये होंगे और हमें बेसहारा छोड़ दिया है। मैं हताशा में यह कल्पना करने लगा कि वह परेशान हाल मेरी तरफ देख रही है और उसके बाद शून्य में घूर रही है।

आधिकारिक रूप से यह खबर हमें एक हफ्ते बाद मिली। यह भी सुनने में आया कि अदालत ने पिता के खिलाफ डिक्री जारी कर दी है कि उन्हें सिडनी और मुझे अपनी निगहबानी में लेना ही होगा। पिता के साथ रहने की संभावना ही उत्तेजना से भर देने वाली थी। मैंने अपनी पूरी जिंदगी में उन्हें सिर्फ दो बार ही देखा था। एक बार मंच पर और दूसरी बार केनिंगटन रोड में एक घर के आगे से गुजरते हुए जब वे फ्रंट गार्डन के रास्ते से एक महिला के साथ चले आ रहे थे। मैं एक पल के लिए ठिठका था और उनकी तरफ देखने लगा था। मुझे पूरा यकीन था कि वे मेरे पिता ही हैं। उन्होंने मेरी पीठ पर हाथ रखकर मुझसे मेरा नाम पूछा था। इस परिस्थिति की नाटकीयता का अंदाजा लगाते हुए मैंने भोलेपन से सिहरते हुए कहा था, 'चार्ली चौप्लिन।' तब उन्होंने जानबूझ कर

उस महिला की तरफ देखा, अपनी जेब में हाथ डालकर कुछ टटोला और आधे क्राउन का सिक्का मुझे थमा दिया। बगैर कुछ और सोचे मैं सीधा घर की तरफ लपका और माँ को बताया कि मैं अपने पिता से मिलकर आ रहा हूं।

और अब हम उनके साथ जाकर रहने वाले थे। कुछ भी हो, केनिंगटन रोड जानी-पहचानी जगह थी और वहां नॉरवुड की तरह अजनबियत और मायूसी नहीं थी। अधिकारी हमें एक बेकरी वैन में बिठा कर 287 केनिंगटन रोड ले गये। यह वही जगह थी जहां मैंने अपने पिता को बगीचे के रास्ते से गुजरते हुए देखा था। दरवाजा एक महिला ने खोला। यह वही महिला थी जो उस दिन पिता के साथ थी। वह ऐय्याश और चिड़चिड़ी-सी लगने वाली औरत लगती थी। इसके बावजूद वह आकर्षक, लम्बी और सुंदर देहयष्टि की मालकिन थी। उसके होंठ भरे-भरे और उदास थे। आंखें कबूतरी जैसी थीं। उसकी उम्र तीस बरस के आस-पास हो सकती थी। उसका नाम लुइस था। ऐसा प्रतीत हुआ कि मिस्टर चौप्लिन घर पर नहीं थे। लेकिन सामान्य कागजी कार्रवाई पूरी करने और हस्ताक्षर वगैरह करने के बाद अधिकारी हमें लुइसके जिम्मे छोड़ गये। लुइस हमें ऊपर वाली मंजिल पर आगे वाली बैठक में ले गयी। जब हम कमरे के भीतर पहुंचे तो एक छोटा-सा बच्चा फर्श पर खेल रहा था। बड़ी-बड़ी, गहरी आंखों और घने भूरे बालों वाला एक निहायत ही खूबसूरत बच्चा। ये बच्चा लुइस का बेटा था। मेरा सौतेला भाई।

परिवार दो कमरों में रहता था और हालांकि सामने वाला कमरा बहुत बड़ा था लेकिन उसमें रोशनी ऐसे छन कर आती थी मानो पानी के नीचे से आ रही हो। सारी चीजें लुइस की ही तरह मायूस नजर आती थीं। वाल पेपर उदास नजर आता था। घोड़े के बालों से भरा फर्नीचर उदासी भरा था और ग्लास केस में पाइक मछली जो अपने ही बराबर एक और पाइक अपने भीतर ठूंसे हुए थी, और उसका सिर पहले वाली के मुंह से बाहर लटक रहा था, बुरी तरह से उदास नजर आते थे।

लुइस ने पिछवाड़े वाले कमरे में सिडनी और मेरे सोने के लिए एक अतिरिक्त बिस्तर लगवा दिया था लेकिन ये बिस्तर बहुत ही छोटा था। सिडनी ने सुझाव दिया कि वह बैठक में सोफे पर सो जाया करेगा लेकिन लुइस ने उसे बरज दिया, 'तुम्हें जहां सोने के लिए कहा गया है, तुम वहीं सोवोगे।' इस संवाद से विकट मौन पसर गया और हम चुपचाप पिछवाड़े वाले कमरे की तरफ बढ़ गये।

हमारा जिस तरीके से स्वागत हुआ था, उसमें लेशमात्रा भी उत्साह नहीं था और इसमें हैरानी वाली कोई बात भी नहीं थी। सिडनी और मैं अचानक उसके ऊपर लाद दिये गये थे। वैसे भी हम अपने पिता की छोड़ी गयी पत्नी के ही तो बच्चे थे।

हम दोनों चुपचाप बैठे उसे काम करते देखते रहे। वह खाने की मेज पर कुछ तैयारियां कर रही थी। तब उसने सिडनी से कहा, 'ऐय, क्या निठल्ले की तरह से बैठे हो, कुछ काम-धाम करो और इस सिगड़ी में कोयले भरो।' और तब वह मेरी तरफ मुड़ी और कहने लगी, 'और तुम लपक कर जाओ और व्हाइट हार्ट की बगल वाली कसाई की दुकान से एक शिलिंग के छीछड़े लेकर आओ।'

मैं उसकी मौजूदगी और पूरे माहौल के आतंक से बाहर निकलने पर खुश ही था क्योंकि एक अदृश्य भय मेरे भीतर उगने लगा था और मैं चाहने लगा था कि हम वापिस नौरवुड लौट जायें।

पिताजी देर से घर वापिस आये और उन्होंने गर्मजोशी से हमारा स्वागत किया। वे मुझे बहुत अच्छे लगे। खाना खाते समय मैं उनकी एक-एक गतिविधि को ध्यान से देखता रहा। वे किस तरह से खाते थे और किस तरह से चाकू को पैन की तरह पकड़ते थे और उससे गोश्त की बोटियां काटते थे और मैं बरसों-बरस उनकी नकल करता रहा।

जब लुइस ने पिताजी को बताया कि सिडनी यह शिकायत कर रहा था कि उसका बिस्तर छोटा है तो उन्होंने कहा कि वह बैठक में सोफे पर सो जाया करेगा। सिडनी की जीत ने लुइस को और भी भड़का दिया और उसने सिडनी को इस बात के लिए कभी माफ नहीं किया। वह हमेशा पिताजी के कान सिडनी के खिलाफ भरती रहती। लुइस हालांकि अक्खड़ और चिड़चिड़ी थी और हमेशा असहमत ही रहती थी लेकिन उसने मुझे एक बार भी पीटा नहीं या कभी डांटा फटकारा भी नहीं। लेकिन इस बात ने कि वह सिडनी को नापसंद करती है, मुझे हमेशा डराये रखा और मैं उससे भय खाता रहा। वह जम के पीती थी और उसकी यह बात मुझे भीतर तक हिला कर रख देती थी। वह अपने छोटे बच्चे के मासूम चेहरे को निहारती हुई हंसती थी और वह अपनी खराब जबान में उसे कुछ कहता रहता था। पता नहीं क्यों, मैं उस बच्चे के साथ हिल-मिल नहीं सका। वैसे तो वह मेरा सौतेला भाई था लेकिन मैंने उससे शायद ही कभी बात की हो, बेशक मैं उससे चार बरस बड़ा भी था। जब कभी भी लुइस पी कर बैठती और कुड़-कुड़ करती रहती तो मैं भीतर तक हिल जाता था। दूसरी तरफ

सिडनी था, उसने इन बातों पर कभी भी ध्यान ही नहीं दिया। शायद ही कोई ऐसा समय रहा हो जब वह रात में देर से न आया हो। मुझ पर यह बंदिश थी कि मैं स्कूल से सीधा ही घर आऊं और घर आते ही मुझे तरह-तरह के कामों के लिए दौड़ाया जाता।

लुइस ने हमें कैनिंगटन रोड के स्कूल में भेजा। यह मेरे लिए बाहरी दुनिया का एक छोटा-सा टुकड़ा था क्योंकि मैं दूसरे बच्चों की मौजूदगी में खुद को कम तन्हा महसूस करता था। शनिवार के दिन आधी छुट्टी रहती थी, लेकिन मैं कभी भी इस दिन का इंतजार नहीं करता था क्योंकि मेरे लिए इसका मतलब था कि जल्दी घर जाना, झाड़ू पोंछा करना, चाकू साफ करना, और तो और, लुइस उस दिन हर हाल में पीना शुरू कर देती थी। जब मैं चाकू साफ कर रहा होता था तो वह अपनी एक सखी के साथ बैठ जाती, पीती रहती और जोर-जोर से अपनी सखी से कड़ुआहट भरे स्वर में शिकायतें करती रहती कि उसे सिडनी और मेरी देखभाल करनी पड़ती है और किस तरह से उसके साथ यह अन्याय किया जा रहा है। मुझे याद है कि उसने मेरी तरफ इशारा करते हुए अपनी सखी से कहा था कि ये तो फिर भी ठीक है, लेकिन दूसरा वाला तो आफत की पुड़िया है और उसे तो जरूर ही सुधार घर में भेज देना चाहिए। इतना ही नहीं, वो तो चार्ली की औलाद भी नहीं है। सिडनी के बारे में यह बदजुबानी मुझे भयभीत कर देती थी। मैं हताशा से भर जाता और मायूस-सा अपने बिस्तर पर जा कर ढह जाता और आंखें खोले निढाल-सा पड़ा रहता था। उस वक्त मैं आठ बरस का भी नहीं हुआ था लेकिन वे दिन मेरी जिन्दगी के सबसे लम्बे और उदासी भरे दिन थे।

कई बार शनिवार की रात को जब मैं खुद को बुरी तरह से हताश महसूस करता तो पिछवाड़े के बेडरूम के पास से गुजरते हुए किसी दो धौंकनियों वाले बाजे, कन्सर्टिना का संगीत सुना करता। कोई जाते-जाते हाइलैंड मार्च की धुन बजा रहा होता और उसके साथ लुच्चे लड़कों और खिड़ खिड़ करती फेरी करके सामान बेचने वाली लड़कियों की आवाजें सुनाई देतीं। संगीत का प्रवाह और प्रभाव भी मेरी बेरहम उदासी पर कोई खास असर नहीं कर पाता था। इसके बावजूद संगीत दूर जाता हुआ धीमा होता चला जाता और मैं उसके चले जाने पर अफसोस मनाता। कई बार कोई फेरी वाला गली से गुजरता। एक खास फेरी वाले की मुझे याद है, जो रात को रूल ब्रिटानिया की धुन पर आवाज निकालता था और उसे झटके के साथ खत्म कर देता। दरअसल वह घोंघे बेच रहा होता

था। तीन दरवाजे छोड़कर एक पब था, जिसके बंद होते समय मैं ग्राहकों की आवाजें सुन सकता था। वे नशे में धुत गाते, भावुकता भरा एक उदास गीत जो उन दिनों खासा लोकप्रिय हुआ करता था।

पुराने वक्त की खातिर मत रहने दो नफरत को जिंदा
पुराने वक्त की खातिर कहो भुला दोगे और कर दोगे माफ
जिंदगी इतनी छोटी कि मत गंवाओ लड़ने में
दिल इतने कीमती कि मत तोड़ो इन्हें
मिलाओ हाथ और खाओ दोस्ती की कसमें
पुराने वक्त की खातिर

मैं भावनाओं को कभी पसंद नहीं कर पाया था लेकिन मुझे ये गीत मेरी उदास हालत में एक बहुत ही नजदीकी साथी की तरह प्रतीत होता था और मुझे लोरी की तरह से सुला दिया करता था।

जब सिडनी रात में देर से लौटता, और ऐसा अक्सर होता था कि वह बिस्तर में सोने के लिए जाने से पहले खाने की अलमारी पर हल्ला बोलता था। इससे लुइस बहुत ताव खाती थी। एक रात जब वह पी रही थी तो वह कमरे में आयी और सिडनी की चादर खींच कर चिल्लाई और उससे बोली कि दफा हो जाओ यहां से। लेकिन सिडनी इसके लिए तैयार था, तुरंत उसने अपने तकिये के नीचे हाथ डाला और एक छोटा सा खंजर निकाला। इसमें एक लम्बा बटन हुक था और उस पर उसने तेज धार दे रखी थी।

'आओ तो जरा मेरे पास और मैं ये तुम्हारे पेट में घुसेड़ दूंगा,' सिडनी चिल्ला पड़ा था। लुइस हक्की-बक्की सी पीछे हटी थी, 'ऐ क्यों रे, ये हरामी का पिल्ला तो मुझे मार डालेगा।'

'हां, मैं तुम्हें मारूंगा,' सिडनी ने बड़े ही नाटकीय अंदाज में कहा।

'जरा घर आने तो दे मिस्टर चौप्लिन को।'

लेकिन मिस्टर चौप्लिन कभी-कभार ही घर आते थे। अलबत्ता, मुझे शनिवार की एक शाम की याद है। लुइस और पिताजी बैठे पी रहे थे और पता नहीं किस वजह से हम मकान मालकिन और उसके पति के साथ पहली मंजिल पर उनके सामने वाले कमरे के आगे की जगह पर बैठे हुए थे। चमकीली रोशनी में मेरे पिता का चेहरा बहुत ही ज्यादा पीला लग रहा था और वे बहुत ही खराब मूड में अपने आपसे कुछ बड़बड़ा रहे थे। अचानक उन्होंने अपनी जेब में हाथ डाला और ढेर सारे पैसे निकाले और गुस्से में चारों तरफ उछाल दिये। सोने और

चांदी के सिक्के। इसका असर अति थार्थवादी था। कोई भी अपनी जगह से नहीं हिला। मकान मालकिन अपनी जगह से चिपकी रह गयी। लेकिन मैंने देखा कि उसकी निगाह सोने के एक सिक्के का पीछा कर रही थी जो लुढ़कता हुआ दूर एक कुर्सी के नीचे जा पहुंचा था। मेरी निगाहें भी उसी सिक्के का पीछा कर रही थी। अभी भी कोई भी नहीं हिला था। मैंने सोचा, मैं ही सिक्के उठाने का श्रीगणेश करूं। मेरे पीछे मकान मालकिन और दूसरे लोग भी उठे और सावधानी पूर्वक बिखरे सिक्के बीनने लगे, इस तरह से कि पिता की धमकाती आंखों के आगे अपनी हरकत को वाजिब ठहरा सकें।

एक शनिवार की बात है, मैं स्कूल से लौटा तो देखा, घर पर कोई भी नहीं है। सिडनी हमेशा की तरह सारे दिन के लिए फुटबाल खेलने गया हुआ था। मकान मालकिन ने बताया कि लुइस अपने बेटे के साथ सुबह से ही बाहर गयी हुई है। पहले तो मैंने राहत महसूस की क्योंकि लुइस के न होने का मतलब था कि मुझे पोंछा नहीं लगाना पड़ेगा, चाकू-छुरियां साफ नहीं करनी पड़ेंगी। मैं खाने के समय के बाद भी बहुत देर तक उनका इंतजार करता रहा, तब मुझे चिंता घेरने लगी। शायद वे लोग मुझे अकेला छोड़ गए थे। जैसे-जैसे दोपहर ढलती गई, मुझे उनकी याद सताने लगी। ये क्या हो गया था? कमरा मनहूस और पराया-सा लग रहा था और उसका खालीपन मुझे डरा रहा था। मुझे भूख भी लग आयी थी। इसलिए मैंने अलमारी में खाने को कुछ तलाशा लेकिन वहां कुछ भी नहीं था। मैं अब खाली घर के भीतर और देर तक खड़ा नहीं रह सकता था इसलिए मैं हताशा में बाहर आ गया और पूरी दोपहर मैंने बाजारों में आवारागर्दी करते हुए गुजार दी। मैं लैम्बेथ वॉक पर और दूसरी सड़कों पर भूखा-प्यासा केक की दुकानों की खिड़कियां में झांकता चलता रहा और गाय और सूअर के मांस के गरमा-गरम स्वादिष्ट लजीज पकवानों को और शोरबे में डूबे गुलाबी लाल आलुओं को देख-देख कर मेरे मुंह में पानी आता रहा। मैं घंटों तक सड़क के किनारे मजमेबाजों को तरह-तरह की चीजें बेचते देखता रहा। इस तरह के भटकाव से मुझे थोड़ी राहत मिली और कुछ देर के लिए मैं अपनी परेशानी और भूख को भूल गया था।

जब मैं वपिस लौटा तो रात हो चुकी थी। मैंने दरवाजा खटखटाया लेकिन कोई जवाब नहीं आया। सब बाहर गये हुए थे। थका मांदा मैं केनिंगटन क्रॉस रोड पर जा कर, घर के पास ही एक पुलिया पर जा कर बैठ गया और निगाह अपने घर पर रखी कि शायद कोई आ जाये। मैं थका हुआ था और बुरी हालत

थी मेरी। मैं इस बात को भी सोच-सोच कर परेशान हो रहा था कि सिडनी भी कहां चला गया। आधी रात होने को थी और एकाध भूले-भटके आवारा को छोड़ कर केनिंगटन रोड पूरी तरह शांत और उजाड़ थी। कैमिस्ट और सरायों की बत्तियों को छोड़ कर बाकी सारी दुकानों की बत्तियां बंद होने लगी थीं।

तभी संगीत की आवाज सुनायी दी। दिल की गहराइयों को छू लेने वाला संगीत। ये आवाजें व्हाइट हार्ट कार्नर पब की दहलीज से आ रही थीं और सुनसान चौराहे पर एकदम साफ गूंज रही थीं। धुन जिस गीत की थी वह था, 'द हनीसकल एंड द बी' और इसे क्लेरिनेट और हार्मोनियम पर पूरी तन्मयता से बजाया जा रहा था। मैं इससे पहले कभी भी संगीत लहरियों को ले कर सचेत नहीं हुआ था। लेकिन यह गीत तो अद्‌भुत और शानदार था। इतना अलौकिक और खुशी से भर देने वाला। गर्मजोशी और आश्वस्ति से भर देने वाला। मैं अपनी हताशा भूल गया और सड़क पार वहां तक चला गया जहां वे संगीतज्ञ थे। हार्मोनियम बजाने वाला अंधा था और उसकी आंखों की जगह पर गहरे खोखल थे और एक जड़ कर देने वाला, बदसूरत चेहरा क्लेरिनेट बजा रहा था।

संगीत सभा जल्द ही खत्म हो गयी और उनके जाते ही रात फिर से पहले से भी ज्यादा उदास हो गयी। मैं सड़क पार कर घर की तरफ आया। थका मांदा और कमजोर। मैंने इस बात की भी परवाह नहीं की कि कोई घर लौटा भी है या नहीं। मैं सिर्फ बिस्तर पर पहुंच कर सो जाना चाहता था। तभी मैंने हल्की रोशनी में बगीचे के रास्ते से किसी को अपने घर की तरफ जाते हुए देखा। ये लुइस थी और साथ में उसका बेटा था जो उसके आगे-आगे भागा जा रहा था। मुझे ये देख कर गहरा सदमा लगा कि वह बुरी तरह से लड़खड़ा रही थी और एक तरफ बहुत ज्यादा झुकी जा रही थी। पहले तो मैंने यही सोचा कि कहीं उसके साथ कोई दुर्घटना हो गयी होगी और उसमें उसका पैर जख्मी हो गया होगा लेकिन तभी मैंने महसूस किया कि वह बुरी तरह से नशे में थी। मैंने उसे पहले कभी भी इस तरह से नशे में धुत्त नहीं देखा था। उसकी इस हालत में मैंने यही उचित समझा कि उसके सामने न ही पड़ा जाये तो बेहतर। इसलिए मैं तब तक रुका रहा जब तक वह घर के अंदर नहीं चली गयी। कुछ ही पलों के बाद मकान मालकिन आयी तो मैं उसके साथ भीतर गया। मैं जब अंधेरे में सरकते हुए सीढ़ियां चढ़ रहा था कि किसी तरह उसकी निगाह में आये बिना अपने बिस्तर तक पहुंच जाऊं। लुइस सीढ़ियों पर एकदम सामने आ खड़ी हुई, 'ऐ, कहां चले जा रहे हो ओ नवाबजादे? ये तेरा घर नहीं है।'

मैं बिना हिले डुले खड़ा रहा।

'आज रात तुम यहां नहीं सोवोगे। समझे। बहुत झेल चुकी मैं तुम दोनों को। दफा हो जाओ यहां से। तुम और तुम्हारा वो भाई। करने दो अपने बाप को तुम लोगों की तीमारदारी।'

मैं बिना हिचकिचाहट के मुड़ा और सीढ़ियों से नीचे उतर कर घर से बाहर हो गया। अब मैं बिल्कुल भी थका हुआ नहीं था। मुझे मेरी दूसरी दिशा मिल चुकी थी। मैंने सुना था कि पिता जी प्रिंस रोड पर क्वींस हैड पब में जाया करते हैं। ये पब आधा मील दूर था। इसलिए मैं उस दिशा में चल पड़ा। मैं उम्मीद कर रहा था कि वे वहां पर मुझे मिल जायेंगे। लेकिन मैंने जल्दी ही उनकी छाया आकृति अपनी तरफ आती देखी। वे गली के लैम्प की रौानी में चले आ रहे थे।

मैं कुनमुनाया, 'वो मुझे अंदर नहीं आने दे रही और मुझे लगता है वह पीती रही है।'

जब हम घर की तरफ चले आ रहे थे तो वे हिचकिचाये, 'मेरी खुद की हालत बहुत अच्छी नहीं है।'

मैंने उन्हें आश्वस्त करने की कोशिश की कि वे बिलकुल ठीक-ठाक है।

'नहीं, मैं नशे में धुत्त हूं।'

उन्होंने बैठक का दरवाजा खोला और वहां मौन और डराने की मुद्रा में खड़े रहे और लुइस की तरफ देखते रहे। वह फायर प्लेस के पास खड़ी, मैंटलपीस पकड़े लहरा रही थी।

'तुमने इसे भीतर क्यों नहीं आने दिया?'

वह अकबकाई-सी पिता जी की तरफ देखती रही और फिर बुड़बुड़ाई, 'तुम भी जहन्नुम में जाओ। तुम सब।'

अचानक पिता ने बगल की अलमारी में से कपड़े झाड़ने का भारी ब्रश उठाया और लुइस की तरफ जोर से दे मारा। ब्रश का पिछला हिस्सा ठीक उसके चेहरे के एक तरफ जा लगा। उसकी आंखें बंद हुई और वह फर्श पर जोर की आवाज करते हुए भहरा कर गिर गयी मानो वह खुद इस उपेक्षा का स्वागत कर रही हो।

पिता की ये करनी देख कर मुझे धक्का लगा। उनकी इस तरह की हिंसा देख कर मेरे मन से उनके प्रति सम्मान की भावना जाती रही थी और उसके बाद फिर क्या हुआ था, इस बारे में मेरी याददाश्त बहुत धुंधली-सी है। मेरा

विश्वास है कि बाद में सिडनी आया था और पिता जी ने हम दोनों को बिस्तर पर लिटा दिया था और घर से चले गये थे।

मुझे पता चला था कि पिताजी और लुइस का उस सुबह ही झगड़ा हुआ था क्योंकि पिताजी उसे छोड़ कर अपने भाई स्पैंसर के पास दिन बिताने के लिए चले गये थे। उनके भाई के लैम्बेथ के आस-पास कई सराय घर थे। अपनी हैसियत के प्रति संवेदनशील होने के कारण लुइस ने इस बात को पसंद नहीं किया कि वह स्पैंसर चौप्लिन के घर जाये और पिताजी अकेले ही चले गये थे। और बदले के भावना से जलते हुए लुइस ने दिन कहीं और बिताया था।

वह पिता को प्यार करती थी। हालांकि मैं उस वक्त बहुत छोटा था लेकिन मैं इस बात को महसूस कर सका था कि जब वह रात के वक्त फायरप्लेस के पास बेचैन और उनकी उपेक्षा से आहत खड़ी थी। मुझे इस बात का भी यकीन है कि वे भी उसे प्यार करते थे। मैंने इस बात को कई मौकों पर खुद देखा। ऐसे भी वक्त आते थे कि जब वे आकर्षक लगते, स्नेह से पेश आते और थियेटर के लिए निकलने से पहले शुभ रात्रि का चुंबन दे कर जाते और किसी रविवार की सुबह, जब उन्होंने पी नहीं रखी होती थी, वे हमारे साथ नाश्ता करते और लुइस को उन कलाकारों के बारे में बताते जो उनके साथ काम कर रहे होते थे। वे हम सब को ये बातें बता कर खूब हंसाते। मैं मुंह बाये गिद्ध की तरह उनकी तरफ देखता रहता और उनकी हर गतिविधि को अपने भीतर उतारता रहता। एक बार जब वे बहुत ही खिलंदड़े मूड में थे तो अपने सिर पर तौलिया बांध कर मेज के चारों तरफ अपने नन्हें बेटे के पीछे-पीछे दौड़ते हुए बोलते रहे, 'मैं हूं राजा टर्की रूबार्ब।'

शाम को आठ बजे थियेटर के लिए निकलने से पहले वे पोर्ट वाइन के साथ छः कच्चे अंडे निगल जाते। वे शायद ही कभी ठोस आहार लेते। यही उनकी खुराक थी जो उन्हें पूरा दिन चुस्त-दुरुस्त बनाये रखती। वे शायद ही कभी घर आते। कभी आते भी तो सिर्फ नशा उतरने तक सोने के लिए आते थे।

एक दिन बच्चों के प्रति क्रूरता की रोकथाम करने वाली सोसाइटी से कुछ लोग लुइस से मिलने आये। वह उन्हें देख कर बुरी तरह बेचैन हो गयी थी। वे लोग इसलिए आये थे क्योंकि पुलिस ने उन्हें बताया था कि उन्होंने सिडनी और मुझे आधी रात को तीन बजे चौकीदार की कोठरी के पास सोये हुए पाया था। यह उस रात की बात थी जब लुइस ने हम दोनों को बाहर निकाल कर दरवाजा

बंद कर दिया था और पुलिस ने जबरदस्ती उससे दरवाजा खुलवाया था और हमें भीतर लेने के लिए उससे कहा था।

अलबत्ता, कुछेक दिनों के बाद, पिता जब दूसरे प्रदेशों में अभिनय में व्यस्त थे, लुइस को एक पत्र मिला जिसमें लिखा था कि मां ने पागलखाना छोड़ दिया है। एक या दो दिन के बाद मकान मालकिन ऊपर आयी और बताने लगी कि दरवाजे पर एक औरत खड़ी है, जो सिडनी और चार्ली को पूछ रही है।

'जाओ, तुम्हारी मां आयी है।' लुइस ने कहा। थोड़ी देर के लिए भ्रम की स्थिति पैदा हो गयी। तभी सिडनी कूदा और तेजी से दौड़ते हुए सीधे मां की बांहों में जा समाया। मैं उसके पीछे-पीछे लपका। यह वही हमारी प्यारी, मुस्कुराती मां थी और उसने हम दोनों को स्नेह से अपने सीने से लगा लिया था।

लुइस और मां का एक दूसरे से मिलना, खासा परेशानी का कारण बन सकता था, इसलिए मां दरवाजे पर ही खड़ी रहीं और हम दोनों भाई अपनी चीजें समेटते रहे। दोनों तरफ कोई कड़ुवाहट या दुर्भावना नहीं थी बल्कि सिडनी को विदा करते समय लुइस का व्यवहार बहुत ही अच्छा था।

मां ने हेवर्ड अचार फैक्टरी के पास केनिंगटन क्रॉस के पीछे वाली गली में एक कमरा किराये पर ले लिया था। हर दोपहर को वहां एसिड की तीखी गंध वातावरण में फैलने लगती, लेकिन कमरा सस्ता था और हम सब एक बार फिर साथ-साथ रह पा रहे थे। मां की सेहत बहुत अच्छी थी और ये बात हमने कभी सोची ही नहीं कि वह कभी बीमार भी रही थी।

मुझे इस बात का जरा-सा भी गुमान नहीं है कि हमारा वह अरसा कैसे गुजरा। न तो मुझे किसी सीमा से ज्यादा तकलीफ की याद है और न ही किसी ऐसी समस्या की जिसका समाधान हमारे पास न हो। पिता की ओर से हर सप्ताह मिलने वाली दस शिलिंग की राशि आम तौर पर नियमित रूप से मिलती रही और, हां, मां ने सीने-पिरोने का काम फिर से हाथ में ले लिया था और गिरजा घर के साथ फिर से संबंध बना लिये थे।

उस समय की एक घटना खास तौर पर याद आ रही है। हमारी गली के एक सिरे पर कसाईघर था जहां हमारी गली में से हो कर कटने के लिए भेड़ें ले जायी जाती थीं। मुझे याद है कि एक भेड़ बच कर निकल भागी थी और गली में दौड़ती चली गयी थी। सब लोग ये तमाशा देखने लगे। कुछेक लोगों ने उसे दबोचने की कोशिश की और दूसरे कुछ लोग अपनी जगह ही कूद-फांद रहे थे। मैं खुशी के मारे खिलखिला कर हँस रहा था। ये नजारा इतना ज्यादा

हास्यास्पद लग रहा था। लेकिन जब भेड़ को पकड़ लिया गया और वापिस कसाईघर की तरफ ले जाया गया तो त्रासदी की सच्चाई मुझ पर हावी हो गयी और मैं भाग कर घर के अंदर चला गया। मैं चिल्ला रहा था और जोर-जोर रोते हुए मां को बता रहा था, 'वे लोग उसे मारने के लिए ले जा रहे हैं, वे लोग उसे मारने के लिए ले जा रहे हैं।' वह तीखी, वसंत की दोपहर और उस भेड़ का कॉमेडी-भरा पीछा करना, कई दिन तक मेरे दिलो-दिमाग पर छाये रहे और मुझे लगता है कि शायद कहीं इसी घटना ने ही मेरी भावी फिल्मों के लिए जमीन तैयार की हो। त्रासदी और कॉमेडी का मिला-जुला रूप।

स्कूल अब नयी ऊंचाइयां छू रहा था। इतिहास, कविता और विज्ञान। लेकिन कुछ विषय बहुत ही जड़ और नीरस थे। खास तौर पर अंक गणित। उसके जोड़-भाग मुझमें किसी लिपिक और कैश रजिस्टर, उसके इस्तेमाल की छवि पैदा करते थे और और सबसे बड़ी बात, ये लगता था कि ये रेजगारी की कमी से एक बचाव की तरह है।

इतिहास मूर्खताओं और हिंसा का दस्तावेज था। कत्ले-आम और राजाओं द्वारा अपनी रानियों, भाइयों और भतीजों को मारने का सतत सिलसिला, भूगोल में सिर्फ नक्शे ही नक्शे ही थे, काव्य के नाम पर अपनी याददाश्त की परीक्षा लेने के अलावा कुछ नहीं था। शिक्षा शास्त्र मुझे पागल बनाता था और तथ्यों की जानकारी में मेरी कोई खास दिलचस्पी नहीं थी।

काश, किसी ने कारोबारी दिमाग इस्तेमाल किया होता, प्रत्येक अध्ययन की उत्तेजनापूर्ण प्रस्तावना पढ़ी होती जिसने मेरा दिमाग झकझोरा होता, तथ्यों के बजाए मुझ में रुचि पैदा की होती, अंकों की कलाबाजी से मुझे आनंदित किया होता, नक्शों के प्रति रोमांच पैदा किया होता, इतिहास के बारे में मेरा दृष्टिकोण विकसित किया होता, मुझे कविता की लय और धुन को भीतर उतारने के मौके दिये होते तो मैं भी आज विद्वान बन सकता था।

अब चूंकि मां हमारे पास वापिस लौट आयी थी, उसने थियेटर की तरफ मेरी रुचि फिर से जगानी शुरू कर दी थी। उसने मुझमें यह अहसास भर दिया था कि मुझमें थोड़ी-बहुत प्रतिभा है। लेकिन ये सुनहरा मौका बड़े दिन से पहले तब तक नहीं आया था जब तक स्कूल ने अपना संक्षिप्त नाटक सिंडरेला नहीं खेला था और मुझे अपने आपको वह सब अभिव्यक्त करने की जरूरत महसूस होने लगी थी जो मुझे मां ने सिखाया-पढ़ाया था। कुछ कारण थे कि मुझे नाटक के लिए नहीं चुना गया था, और भीतर ही भीतर मैं कुढ़

रहा था और महसूस कर रहा था कि बेहतर होता, मैं नाटक में भूमिका करूं बजाये उनके जो इस नाटक के लिए चुने गये थे। जिस तरह से बच्चे नीरस ढंग से और कल्पना शक्ति का सहारा लिये बिना अपनी भूमिका अदा कर रहे थे, उससे मुझमें खीज पैदा हो रही थी। बदसूरत बहनों में न कोई उत्साह था न ही भीतरी उमंग। वे अपनी लाइनें रटे-रटाये ढंग से पढ़ रही थीं जिसमें स्कूल के बच्चों वाली भेड़-चाल और खीझ पैदा करने वाली कृत्रिमता का दबाव था। मैं मां की दी हुई शिक्षा के साथ बदसूरत बहनों में से एक की भूमिका भला कैसे कर सकता था। अलबत्ता, जिस लड़की ने सिंडरेला की भूमिका की थी, उसने मुझे बांध लिया था। वह खूबसूरत और नफासत पसंद थी और उसकी उम्र चौदह बरस के आस-पास थी। मैं उससे गुपचुप प्यार करने लगा था। लेकिन वह मेरी पहुंच से दूर थी। सामाजिक तौर पर भी और उम्र के लिहाज से भी।

मैंने जब नाटक देखा तो मुझे ये बकवास लगा लेकिन लड़की की खूबसूरती के कारण मैंने इसे पसंद किया। उस लड़की ने मुझे उदास कर दिया था। अलबत्ता, मैंने इस बात को शायद ही महसूस किया था कि दो महीने बाद मेरी जिंदगी में कितने शानदार पल आने वाले थे कि मुझे हर क्लास के सामने ले जाया गया और -मिस प्रिशिला की बिल्ली का पाठ करने के लिए कहा गया। ये एक स्वांग भरी कविता थी जो मां ने अखबारों की दुकान के बाहर देखी थी और ये उसे इतनी अच्छी लगी कि वह खिड़की पर से नकल करके घर लेती आयी। कक्षा में खाने की छुट्टी के समय मैं उसे एक लड़के को सुना रहा था। तभी मिस्टर रीड, हमारे स्कूल के अध्यापक, ने अपने कागजों पर से ध्यान हटा कर देखा। वे इसे सुन कर इतने खुश हुए कि जब कक्षा के सब बच्चे वापिस आ गये तो उन्होंने मुझे ये सुनाने के लिए कहा। पूरी कक्षा हंसते-हंसते लोट-पोट हो गयी। इस वजह से पूरे स्कूल में मेरा नाम फैल गया और अगले दिन मुझे स्कूल की हर कक्षा में, लड़के-लड़कियों की सभी कक्षाओं में ले जाया गया और उसका पाठ करने के लिए कहा गया।

हालांकि मैंने पांच बरस की उम्र में दर्शकों के सामने मंच पर मां की जगह लेते हुए अभिनय किया था लेकिन ग्लैमर से ये मेरा पहला होशो-हवास वाला साबका था। अब स्कूल मेरे लिए उत्तेजनापूर्ण हो चुका था और अब मैं शर्मीला और गुमसुम-सा लड़का नहीं रहा था। अब मैं अध्यापकों और बच्चों, सबका चहेता विद्यार्थी बन चुका था। इससे मेरी पढ़ाई में भी सुधार हुआ, लेकिन मेरी

पढ़ाई में फिर से व्यवधान आया जब मुझे अष्टम लंकाशायर बाल गोपाल मंडली के साथ क्लॉग नर्तकों के एक ट्रुप में हिस्सा लेना पड़ा।

अध्याय 3

पिता जी मिस्टर जैक्सन को जानते थे। वे एक ट्रुप के संचालक थे। पिता जी ने मां को इस बात के लिए मना लिया कि मेरे लिए स्टेज पर कैरियर बनाना एक अच्छी शुरुआत रहेगी और साथ ही साथ मैं मां की आर्थिक रूप से मदद भी कर पाऊंगा। मेरे लिए खाने और रहने की सुविधा रहेगी और मां को हर हफ्ते आधा क्राउन मिला करेगा। शुरू–शुरू में तो वह अनिश्चय में डोलती रही, लेकिन मिस्टर जैक्सन और उनके परिवार से मिलने के बाद मां ने हामी भर दी।

मिस्टर जैक्सन की उम्र पचास-पचपन के आस-पास थी। वे लंकाशायर में अध्यापक रहे थे और उनके परिवार में चार बच्चे थे। तीन लड़के और एक लड़की। ये चारों बच्चे अष्टम लंकाशायर बाल गोपाल मंडली के सदस्य थे। मिस्टर जैक्सन परम रोमन कैथोलिक थे और अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह करने के बारे में उन्होंने अपने बच्चों से सलाह ली थी। उनकी दूसरी पत्नी उम्र में उनसे भी थोड़ी बड़ी थी। वे हमें पूरी नेकनीयती से बता दिया करते कि उन दोनों की शादी कैसे हुई थी। उन्होंने एक अखबार में अपने लिए एक बीवी के लिए एक विज्ञापन दिया था और उसके जवाब में तीन सौ से भी ज्यादा खत मिले थे।

भगवान से राह सुझाने के लिए दुआ करने के बाद उन्होंने केवल एक ही लिफाफा खोला था और वह खत था मिसेज जैक्सन की ओर से। वे भी एक स्कूल में पढ़ाती थीं और शायद ये मिस्टर जैक्सन की दुआओं का ही असर था कि वे भी कैथोलिक थीं।

मिसेज जैक्सन को बहुत अधिक खूबसूरती का वरदान नहीं मिला था और न ही उन्हें किसी भी निगाह से कमनीय ही कहा जा सकता था। जहां तक मुझे याद है, उनका बड़ा सा, खोपड़ी जैसा पीला चेहरा था और उस पर ढेर सारी झुर्रियां थीं। शायद इन झुर्रियों की वजह यह रही हो कि उन्हें काफी बड़ी उम्र में मिस्टर जैक्सन को एक बेटे की सौगात देनी पड़ी थी। इसके बावजूद वे निष्ठावान और समर्पित पत्नी थीं और हालांकि उन्हें अभी भी अपने बेटे को छाती का दूध पिलाना पड़ता था, वे ट्रुप की व्यवस्था में हाड़-तोड़ मेहनत करके मदद किया करती थीं।

जब उन्होंने रोमांस की अपनी दास्तान सुनायी तो यह दास्तान मिस्टर जैक्सन की बतायी कहानी से थोड़ी अलग थी। उनमें आपस में पत्रों का आदान-प्रदान हुआ था लेकिन उन दोनों में से किसी ने भी दूसरे को शादी के दिन तक नहीं देखा था और बैठक के कमरे में उन दोनों के बीच जो पहली मुलाकात हुई थी और परिवार के बाकी लोग दूसरे कमरे में इंतजार कर रहे थे, मिस्टर जैक्सन ने कहा था, 'बस, आप वही हैं जिनकी मुझे चाह थी।' और मैडम ने भी वही बात स्वीकार की। हम बच्चों को ये किस्सा सुनाते समय वे विनम्र हो कर कहतीं, 'लेकिन मुझे नहीं पता था कि मुझे हाथों-हाथ आठ बच्चों की मां बन जाना पड़ेगा।'

उनके तीन बच्चों की उम्र बारह से अट्ठारह बरस के बीच थी और लड़की की उम्र नौ बरस थी। उस लड़की के बाल लड़कों की तरह कटे हुए थे ताकि उसे भी मंडली के बाकी लड़कों में खपा लिया जा सके।

हर रविवार को मेरे अलावा सब लोग गिरजाघर जाया करते थे। मैं ही उन सब में अकेला प्रोटैस्टैंट था, इसलिए अक्सर उनके साथ ही चला जाता। मां की धार्मिक भावनाओं के प्रति सम्मान न होता तो मैं कब का कैथोलिक बन चुका होता क्योंकि मैं इस धर्म का रहस्यवाद पसंद करता था और घर की बनी हुई छोटी-छोटी ऑल्टर तथा लास्टर की मेरी वर्जिन की मूर्तियां, जिन पर फूल और मोमबत्तियां सजी रहतीं, मुझे अच्छी लगतीं। इन्हें बच्चे अपने बेडरूम के कोने में सजा कर रखते और जब भी उसके आगे से गुजरते, घुटने टेक कर श्रद्धा अर्पित करते।

छः सप्ताह तक अभ्यास करने के बाद मैं अब इस स्थिति में था कि बाकी मंडली के साथ नाच सकूं। लेकिन चूंकि मैं अब आठ बरस की भी उम्र पार कर चुका था, मैं अपनी आश्वस्ति खो चुका था और पहली बार दर्शकों के सामने आने पर मुझे मंच का भय लगा। मैं मुश्किल से अपनी टांगें हिला पा रहा था। हफ्तों लग गये तब कहीं जा कर मैं मंडली के बाकी बच्चों की तरह एकल नृत्य करने की हालत में आ सका।

मैं इस बात को ले कर बहुत अधिक खुश नहीं था कि मुझे भी मंडली के बाकी आठ बच्चों की तरह क्लॉग डांसर ही बना रहना पड़े। बाकी बच्चों की तरह मैं भी एकल अभिनय करने की महत्त्वाकांक्षा रखता था। सिर्फ इसलिए नहीं कि इस तरह के काम के ज्यादा पैसे मिलते थे बल्कि इसलिए भी कि मैं शिद्दत से महसूस करता था कि नाचने के बजाये इस तरह के अभिनय से कहीं

ज्यादा संतुष्टि मिलती है। मैं बाल हास्य कलाकार बनना चाहना था लेकिन उसके लिए स्टेज पर अकेले खड़े रहने का माद्दा चाहिये था। इसके अलावा मेरी पहली भीतरी प्रेरणा यही थी कि मैं एकल नृत्य के अलावा जो कुछ भी करूंगा, हास्यास्पद होगा। मेरा आदर्श दोहरा अभिनय था। दो बच्चे कॉमेडी ट्रैम्प की तरह कपड़े पहने हों। मैंने यह बात अपने एक साथी बच्चे को बतायी और हम दोनों ने पार्टनर बनना तय किया। ये हमारा कब का पाला सपना पूरा होने जा रहा था। हम अपने आपको ब्रिस्टॉल और चौप्लिन – करोड़पति ट्रैम्प कहते और ट्रैम्प गलमुच्छे लगाते, और हीरे की बड़ी-बड़ी अंगूठियां पहनते। हमने उस हर पहलू पर विचार कर लिया था जो मजाकिया होता और जिससे कमाई हो सकती लेकिन अफसोस, ये सपना कभी भी साकार नहीं हो सका।

दर्शक अष्टम लंकाशायर बाल गोपाल मंडली पसंद करते थे क्योंकि जैसा कि मिस्टर जैक्सन कहते थे – हम थियेटर के बच्चों जैसे बिलकुल भी नहीं लगते थे। उनका यह दावा था कि हमने कभी भी अपने चेहरों पर ग्रीज पेंट नहीं पोता, और हमारे गुलाबी गाल वैसे ही गुलाबी थे। यदि कोई बच्चा स्टेज पर जाने से पहले जरा-सा भी पीला दिखायी देता तो वे हमें बताते कि अपने गालों को मसल दें। लेकिन लंदन में एक ही रात में दो या तीन संगीत सदनों में काम करने के बाद अक्सर हम भूल जाते और स्टेज पर खड़े हुए थके-मांदे और मनहूस लगने लगते। तभी हमारी निगाह विंग्स में खड़े मिस्टर जैक्सन पर पड़ती और वे जोर-जोर से खींसें निपोरते हुए अपने चेहरे की तरफ इशारा कर रहे होते। इसका बिजली का-सा असर होता और हम अचानक हँसी के मारे दोहरे हो जाते।

प्रदेशों के टूर करते समय हम हर शहर में एक-एक हफ्ते के लिए स्कूल जाया करते। लेकिन इससे मेरी पढ़ाई में कोई खास इजाफा नहीं हुआ।

क्रिसमस के दिनों में हमें लंदन हिप्पोड्रोम में सिंडरेला पैंटोमाइम में बिल्ली और कुत्ते का मूक अभिनय करने का न्यौता मिला। उन दिनों ये नया थियेटर हुआ करता था और इसमें वैराइटी शो और सर्कस का मिला-जुला रूप हुआ करता था। इसे बहुत खूबसूरती से सजाया जाता और काफी हंगामा रहा करता था। रिंग का फर्श नीचे चला जाता था और वहां पानी भर जाता था और काफी बड़े पैमाने पर बैले होता। एक के बाद एक बला की खूबसूरत लड़कियां चमकीली सज-धज में आतीं और पानी के नीचे एकदम गायब हो जातीं। जब लड़कियों की आखिरी पंक्ति भी डूब जाती तो मैर्सलाइन, महान फ्रांसीसी जोकर, शाम की बेतुकी, चिकनी पोशाक में सजे धजे, एक कैम्प स्टूल पर बैठे हाथ

में मछली मारने की रॉड लिये अवतरित होते और बड़ा-सा गहनों का बक्सा खोलते, अपने कांटे में हीरे का एक नेकलेस फंसाते और उसे पानी में डाल देते। थोड़ी देर के बाद वे छोटे आभूषण निकालते और कुछ बेसलेट फेंकते, और इस तरह पूरा का पूरा बक्सा खाली कर डालते। अचानक वे एक झटका खाते और तरह-तरह की मजाकिया हरकतें करते हुए रॉड के साथ संघर्ष करते हुए प्रतीत होते और आखिर कांटे को खींच कर बाहर निकालते और हम देखते कि पानी में से एक छोटा-सा प्रशिक्षित कुत्ता बाहर आ रहा है। कुत्ता वही सब कुछ करता जो मार्सलीन करते। अगर वे बैठते तो कुत्ता भी बैठ जाता और अगर वे खड़े होते तो कुत्ता भी खड़ा हो जाता। मार्सलीन साहब की कॉमेडी हंसी-ठिठोली से भरी और आकर्षक थी और लंदन के लोग उनके पागलपन की हद तक दीवाने थे।

रसोई के एक दृश्य में मुझे उनके साथ करने के लिए एक छोटा-सा मजाकिया दृश्य दिया गया। मैं बिल्ली बना हुआ था और मार्सलीन एक कुत्ते की तरफ से पीछे आते हुए मेरे ऊपर गिर जाने वाले थे जबकि मैं दूध पी रहा होता। वे हमेशा शिकायत किया करते कि मैं अपनी कमर को इतना नहीं झुकाता कि उनके गिरने के बीच आड़े आऊं। मैंने बिल्ली का एक मुखौटा पहना हुआ था और मुखौटा ऐसा कि जिस पर हैरानी के भाव थे। बच्चों के लिए पहले मैटिनी शो में मैं कुत्ते के शरीर के पिछले हिस्से की तरफ चला गया और उसे सूंघने लगा। जब दर्शक हंसने लगे तो मैं वापिस मुड़ा और उनकी तरफ हैरानी से देखने लगा और मैंने एक डोरी खींची जिससे बिल्ली की घूरती हुई आंख मुंद जाती थी। मैं जब कई बार सूंघने और आंख मारने का अभिनय कर चुका तो स्टेज मैनेजर लपका हुआ बैक स्टेज में आया और विंग्स में से पागलों की तरह हाथ हिलाने लगा। लेकिन मैं अपने काम में लगा रहा। कुत्ते को सूंघने के बाद मैंने रंगमंच सूंघा और फिर अपनी टांग उठा दी। दर्शक हँस-हँस कर दोहरे हो गये। शायद इसलिए क्योंकि ये हरकत बिल्ली जैसी नहीं थी। आखिरकार मैनेजर से मेरी आंखें मिल ही गयीं और मैं इतना कूदा-फांदा कि लोग हँसते हँसते लोट पोट हो गये। वे मुझ पर झल्लाये, 'इस तरह की हरकत फिर कभी मत करना।' यह कहते हुए उनकी सांस फूल रही थी, 'तुम जरूर इस थियेटर के मालिक लॉर्ड चौम्बरलिन को ये थियेटर बंद करने पर मजबूर करोगे।'

सिंडरेला को आशातीत सफलता मिली और हालांकि मार्सलीन साहब को कहानी तत्त्व या प्लॉट के साथ कुछ लेना-देना नहीं था, फिर भी वे सबसे बड़ा आकर्षण थे। कई बरसों के बाद मार्सलीन न्यूयॉर्क के हिप्पोड्रोम में चले गये और

उन्हें वहां भी हाथों-हाथ लिया गया। लेकिन जब हिप्पोड्रोम की जगह सर्कस ने ले ली तो मार्सलीन साहब को जल्दी ही भुला दिया गया।

1918 या उसके आस-पास की बात है, रिंगलिंग ब्रदर्स का थ्री रिंग सर्कस लॉस एंजेल्स में आया तो मार्सलीन उनके साथ थे। मैं यह मान कर चल रहा था कि उनका जिक्र पोस्टरों में होगा लेकिन मुझे यह देख कर गहरा धक्का लगा कि उनकी भूमिका बहुत से उन दूसरे जोकरों की ही तरह थी जो पूरे रिंग में यहां से वहां तक दौड़ते नजर आते हैं। एक महान कलाकार तीन रिंग वाले सर्कस की अश्लील तड़क-भड़क में खो गया था।

बाद में मैं उनके ड्रेसिंग रूम में गया और अपना परिचय दिया और उन्हें याद दिलाया कि मैंने उनके साथ लंदन के हिप्पोड्रोम में बिल्ली की भूमिका अदा की थी। लेकिन उनकी प्रतिक्रिया उदासीन थी। यहां तक कि अपने जोकर वाले मेक-अप में भी उनका चेहरा सूजा हुआ लग रहा था और वे उदास और सुस्त लग रहे थे।

एक बरस बाद न्यूयार्क में उन्होंने खुदकुशी कर ली। अखबारों में एक कोने में छोटी-सी खबर छपी थी कि उसी घर में रहने वाले एक पड़ोसी ने गोली चलने की आवाज सुनी थी और मार्सलीन को फर्श पर पड़े हुए देखा था। उनके एक हाथ में पिस्तौल थी और ग्रामोफोन रिकार्ड अभी भी घूम रहा था। रिकार्ड पर जो गीत बज रहा था, वह था, 'मूनलाइट एंड रोजेज।'

कई मशहूर अंग्रेजी कॉमेडियनों ने खुदकुशी की है। टी ई डनविले, जो बहुत ही आला दरजे के हंसोड़ व्यक्ति थे, ने सैलून बार के भीतर जाते समय किसी को पीठ पीछे यह कहते सुन लिया था, 'अब इस शख्स के दिन लद गये।' उसी दिन उन्होंने टेम्स नदी के किनारे अपने आप को गोली मार दी थी।

मार्क शेरिडन, जो इंग्लैंड के सर्वाधिक सफल कामेडियन थे, ने ग्लासगो में एक सार्वजनिक पार्क में अपने आपको गोली मार दी थी क्योंकि वे ग्लासगो के दर्शकों की अपेक्षाओं पर खरे नहीं उतरे थे।

फ्रैंक कॉयन, जिनके साथ हमने उसी शो में काम किया था, जांबाज, हट्टे-कट्टे कामेडियन थे और जो अपने एक हल्के-फुल्के गाने के लिए बहुत प्रसिद्ध थे–

आप मुझे घोड़े की पीठ पर दोबारा सवार नहीं पायेंगे
ऐसा नहीं है वह घोड़ा चढ़ सकूं जिस पर मैं

जिस घोड़े पर मैं चढ़ सकता हूं वो तो
है वो जिस पर मोहतरमा सुखाती है कपड़े

स्टेज के बाहर वे हमेशा खुश रहते और मुस्कुराते रहते। लेकिन एक दोपहर, अपनी पत्नी के साथ घोड़ी वाली गाड़ी पर सैर की योजना बनाने के बाद वे कुछ भूल गये और अपनी पत्नी से कहा कि वह इंतजार करे और वे खुद सीढ़ियां चढ़ कर भीतर गये। बीस मिनट के बाद जब वह ऊपर यह देखने के लिए गयी कि उन्हें आने में देर क्यों हो रही है तो उसने उन्हें बाथरूम के फर्श पर खून से लथपथ पड़े हुए पाया। उनके हाथ में उस्तरा था और उन्होंने अपना गला काट कर अपने आपको लगभग खत्म ही कर डाला था।

अपने बचपन में मैंने जिन कई कलाकारों के साथ काम किया था और जिन्होंने मुझे प्रभावित किया था, वे स्टेज पर हमेशा सफल नहीं थे बल्कि स्टेज से बाहर उनका विलक्षण व्यक्तित्त्व हुआ करता था। जार्मो नाम के एक कॉमेडी ट्रैम्प बाजीगर हुआ करते थे जो कड़े अनुशासन में काम करते थे और थियेटर के खुलते ही हर सुबह घंटों तक अपनी बाजीगरी का अभ्यास किया करते थे। हम उन्हें स्टेज के पीछे देख सकते थे कि वे बिलियर्ड खेलने की छड़ी को अपनी ठुड्डी पर संतुलित कर रहे हैं और एक बिलियर्ड गेंद उछाल कर उसे इस छड़ी के ऊपर टिका रहे हैं। इसके बाद वे दूसरी गेंद उछालते और पहली गेंद के ऊपर टिका देते। अक्सर वे दूसरी गेंद टिकाने में चूक जाते। मिस्टर जैक्सन ने बताया कि वे चार बरस तक लगातार इस ट्रिक का अभ्यास करते रहे थे और सप्ताह के अंत में इसे पहली बार दर्शकों के सामने दिखाना चाह रहे थे। उस रात हम सब विंग्स में खड़े उन्हें देखते रहे। उन्होंने बिलकुल ठीक प्रदर्शन किया और पहली ही बार ठीक किया। गेंद को ऊपर उछालना और बिलियर्ड की छड़ी पर ऊपर टिका देना और फिर दूसरी गेंद उछालना और उसे पहली गेंद के ऊपर टिका देना लेकिन दर्शकों ने मामूली सी तालियां ही बजायीं।

मिस्टर जैक्सन ने उस रात का किस्सा बताया था, उन्होंने जार्मो से कहा था, 'तुम इस ट्रिक को बहुत ही आसान बना डालते हो। इस वजह से तुम इसे बेच नहीं पाते। तुम इसे कई बार मिस करो, तब जा कर गेंद को ऊपर टिकाओ, तब बात बनेगी।' जार्मो हंसे थे, 'मैं इतना कुशल नहीं हूं कि इसे मिस कर सकूं।' जार्मो मानस विज्ञान में भी दिलचस्पी रखते थे और हमारे चरित्र पढ़ा करते। उन्होंने मुझे बताया था कि मैं जो कुछ भी ज्ञान हासिल करूंगा, उसे बनाये रखूंगा और उसका बेहतर इस्तेमाल करूंगा।

इनके अलावा, ग्रिफिथ बंधु हुआ करते थे। मजाकिया और प्रभाव छोड़ने वाले। उन्होंने मेरा मनोविज्ञान ही उलट-पुलट डाला था। वे दोनों कॉमेडी ट्रैपीज जोकर थे और दोनों ट्रैपीज पर झूला करते। वे मोटे पैड लगे जूतों से एक दूसरे के मुंह पर जोर से लात जमाते।

'आह,' लात खाने वाला चिल्लाता।

'जरा एक बार फिर मार कर तो दिखा।'

'ले और ले। एक और लात'

और फिर लात खाने वाला हैरानी से देखता रह जाता और आंखें नचाता और कहता, 'अरे देखो, उसने फिर से लात मार दी है।'

मुझे इस तरह की पागलपन से भरी हिंसा से तकलीफ होती। लेकिन स्टेज से बाहर वे दोनों भाई बहुत प्यारे, शांत और गम्भीर होते।

मेरा ख्याल है, किंवदंती बन चुके ग्रिमाल्डी के बाद डान लेनो महान अंग्रेज कॉमेडियन रहे। हालांकि मैंने कभी भी लेनो को उनके चरम उत्कर्ष पर नहीं देखा, वे मेरे लिए कॉमेडियन के बजाये चरित्र अभिनेता अधिक थे। लंदन के निचले वर्गों के सनक से भरे जीवन के उनके खाके, स्कैच अत्यंत मानवीय और दिल को छू लेने वाले होते, मां ने मुझे बताया था।

प्रसिद्ध मैरी लॉयड की प्रसिद्धि छिछोरी औरत के रूप में थी। इसके बावजूद जब हमने उनके साथ स्ट्रैंड में ओल्ड टिवोली में अभिनय किया तो वे ज्यादा गम्भीर और सतर्क अभिनेत्री लगीं। मैं उन्हें आंखें चौड़ी किये देखता रहता। एक चिंतातुर, छोटी-मोटी महिला जो दृश्यों के बीच आगे-पीछे कदम ताल करती रहती थीं।

वे तब तक गुस्से में और डरी रहतीं जब तक उनके लिए मंच पर जाने का समय न आ जाता। उसके बाद वे एकदम खुशमिजाज दिखतीं और उनके चेहरे पर राहत के भाव आ जाते।

और फिर, ब्रांसबाय विलियम्स, जो डिकेंस के पात्रों का अभिनय करते थे, वे उरिया हीप, बिल साइक्स और द' ओल्ड क्यूरोसिटी शॉप के बूढ़े आदमी की नकल से मुझे आनन्दित किया करते थे। इस खूबसूरत, अभिजात्य पुरुष का ग्लासगो की उजड्ड जनता के सामने अभिनय करना और अपने आप को इन शानदार चरित्रों में ढाल कर करतब दिखाना, थियेटर के नये ही अर्थ खोलता था।

उन्होंने साहित्य के प्रति भी मेरे मन में अनुराग जगाया था। मैं जानना चाहता था कि आखिर वह अबूझ रहस्य क्या है, जो किताबों में छुपा रहता है, डिकेंस के ये जमीनी रंग के चरित्र जो इस तरह की आश्चर्यजनक क्रुक्शांकियाई दुनिया में विचरते हैं। हालांकि मैं मुश्किल से पढ़ पाता था, मैंने आखिरकार ऑलिवर ट्विस्ट की प्रति खरीदी।

मैं चार्ल्स डिकेंस के चरित्रों के साथ इतना ज्यादा रोमांचित था कि मैं उनकी नकल करने वाले ब्रांसबाय विलियम्स की नकल करता। इस बात से इनकार कैसे किया जा सकता है कि इस तरह की उभरती हुई प्रतिभा पर किसी की निगाह न जाती। इसे छुपा कर कैसे रखा जा सकता था। तो हुआ ये कि एक दिन मिस्टर जैक्सन ने मुझे अपने दोस्तों का द' ओल्ड क्यूरोसिटी शॉप के बूढ़े का चरित्र निभा कर उसकी नकल करते देख लिया। मुझे तब और तभी जीनियस मान लिया गया और मिस्टर जैक्सन ने तय कर लिया कि वे पूरी दुनिया से इस प्रतिभा का परिचय करवा के रहेंगे।

अचानक मौका आया मिडल्सबोरो में थियेटर में। हमारे क्लॉग नृत्य के बाद मिस्टर जैक्सन स्टेज पर कुछ इस तरह का भाव लिये हुए आये मानो वे एक नये मसीहा का परिचय कराने के लिए चले आ रहे हों। उन्होंने घोषणा की कि उन्होंने एक बाल प्रतिभा खोज निकाली है और द' ओल्ड क्यूरोसिटी शॉप के उस बूढ़े की ब्रांसबाय विलियम्स की नकल करके दिखायेगा जो अपने नन्हें नेल की मृत्यु को पहचान नहीं पाता।

दर्शक इसके लिए बहुत ज्यादा तैयार नहीं थे, क्योंकि वे पहले ही पूरी शाम का एक बोर मनोरंजन झेल चुके थे। अलबत्ता, मैं अपनी डांस वाली सामान्य पोशाक पहने हुए ही मंच पर आया। मैंने सफेद लीनन का फ्रॉक, लेस वाले कॉलर, चमकीले निक्कर, बॉकर पैंट, और नाचने के समय के लाल जूते पहले पहने हुए थे। और मैं अभिनय कर रहा था ऐसे बूढ़े का जो नब्बे बरस का हो। कहीं से हमें एक ऐसी पुरानी विग मिल गयी थी – शायद मिस्टर जैक्सन कहीं से लाये होंगे, जो वैसे तो बड़ी थी लेकिन जो मुझे पूरी नहीं आ रही थी हालांकि मेरा सिर बड़ा था लेकिन विग उससे भी बड़ी थी। ये एक गंजे आदमी वाली विग थी और उसके चारों तरफ सफेद लटें झूल रही थीं इसलिए मैं जब स्टेज पर एक बूढ़े आदमी की तरह झुका हुआ पहुंचा तो इसका असर घिसटते गुबरैले की तरह था और दर्शकों ने इस तथ्य को दबी हंसी के साथ स्वीकार किया।

इसके बाद तो उन्हें चुप कराना ही मुश्किल हो गया। मैं दबी हुई फुसफुसाहट में बोल रहा था,' हश... हश.... शोर मत करो, नहीं तो मेरा नेल जग जायेगा।'

'जोर से बोलो, जोर से बोलो' दर्शक चिल्लाये।

लेकिन मैं बहुत ही अनौपचारिक तरीके से उसी तरह से फुसफुसाहट के स्वर में ही बोलता रहा। मैं इतने अंतरंग तरीके से बोल रहा था कि दर्शक पैर पटकने लगे। चार्ल्स डिकेंस के चरित्रों को जीने के रूप में ये मेरे कॅरियर का अंत था।

हालांकि हम किफायत से रहते थे लेकिन हम अष्टम लंकाशायर बाल गोपालों का जीवन ठीक-ठाक चल रहा था। कभी-कभी हम लोगों में छोटी-मोटी असहमति भी हो जाती। मुझे याद है, हम दो युवा एक्रोबैट्स के साथ एक ही प्रस्तुति में काम कर रहे थे। प्रशिक्षु लड़के मेरी ही उम्र के रहे होंगे। उन्होंने हमें विश्वास पूर्वक बताया कि उनकी मांओं को तो सात शिलिंग और छः पेंस हफ्ते के मिलते हैं और हर सोमवार की सुबह उन्हें नाश्ते की बैकन और अंडे की प्लेट के नीचे एक शिलिंग की पाकेट मनी भी रखी मिलती है। और हमें तो, हमारे ही एक साथी ने शिकायत की, 'हमें तो सिर्फ दो ही पेंस मिलते हैं और ब्रेड जैम का नाश्ता मिलता है।'

जब मिस्टर जैक्सन के पुत्र जॉन ने यह सुना कि हम शिकायत कर रहे हैं तो वह रुआंसा हो गया और एकदम रो पड़ा। हमें बताने लगा कि हमें कई बार लंदन के उन उपगनरों में ऐसे भी सप्ताह गुजारने पड़ते हैं जब उसके पिता को पूरी मंडली के लिए मात्रा सात पौंड ही मिल पाते हैं और वे किसी तरह गाड़ी खींचने में बहुत ही मुश्किल का सामना कर रहे हैं।

इन दोनों युवा एक्रोबैट्स की इस शानदार जीवन शैली का ही असर था कि हमने भी एक्रोबैट बनने की हसरतें पाल लीं। इसलिए कई बार सुबह के वक्त, जैसे ही थियेटर खुलता, हम में से एक या दो जन एक रस्सी के साथ कलाबाजियां खाने का अभ्यास करते। हम रस्सी को अपनी कमर से बांध लेते, जो एक पूली से जुड़ी होती, और हम में से एक लड़का रस्सी को थामे रहता। मैंने इस तरीके से अच्छी कलाबाजियां खाना सीख लिया था कि तभी मैं गिरा और अपने अंगूठे में मोच खा बैठा। इसी के साथ ही मेरे एक्रोबैट के कॅरियर का अंत हुआ।

नृत्य के अलावा हमेशा हम लोगों की कोशिश होती कि अपने आइटम में नया कुछ जोड़ें। मैं एक कॉमेडी बाजीगर बनना चाहता था और इसके लिए मैंने इतने पैसे बचा लिये थे कि मैंने उनसे रबर की चार गेंदें और टिन की चार प्लेटें खरीदीं। मैं अपने बिस्तर के पास खड़ा घंटों इनके साथ अभ्यास किया करता।

मिस्टर जैक्सन अनिवार्य रूप से एक बेहतरीन आदमी थे। मेरे ट्रुप छोड़ने से तीन महीने पहले उन्होंने मेरे पिता की सहायतार्थ एक आयोजन किया था और उसमें हम लोग शामिल हुए थे। मेरे पिता उन दिनों बहुत बीमार चल रहे थे। कई वैराइटी कलाकारों ने बिना कोई शुल्क लिये अपनी सेवाएं दीं। मिस्टर जैक्सन की अष्टम बाल गोपाल मंडली ने भी अपनी सेवाएं दीं। उस सहायतार्थ आयोजन में मेरे पिता स्टेज पर मौजूद थे और वे बहुत मुश्किल से सांस ले पा रहे थे। बहुत तकलीफ से वे अपना भाषण दे पाये थे। मैं स्टेज पर एक तरफ खड़ा उन्हें देख रहा था। उस वक्त मैं नहीं जानता था कि वे तिल-तिल मौत की तरफ बढ़ रहे थे।

जब हम लंदन में होते तो मैं हर सप्ताह मां से मिलने के लिए जाता। उसे लगता कि मैं पीला पड़ गया हूं और कमजोर हो गया हूं और कि नाचने से मेरे फेफड़ों पर असर हो रहा है। इस बात ने उसे इतना चिंतित कर दिया कि उसने इस बारे में मिस्टर जैक्सन को लिखा। मिस्टर जैक्सन इतने नाराज हुए कि आखिरकार उन्होंने मुझे घर का ही रास्ता दिखा दिया कि मैं चिंतातुर मां का लाडला इतनी बड़ी परेशानी के लायक नहीं हूं।

अलबत्ता, कुछ ही हफ्तों के बाद मुझे दमा हो गया। दमे के दौरे इतने तेज होते कि मां को पूरा यकीन हो गया कि मुझे टीबी हो गयी है और वह मुझे तुरंत ब्राम्पटन अस्पताल ले गयी। वहां मेरी अच्छी तरह से पूरी जांच की गयी। मेरे फेफड़ों में कोई भी खराबी नहीं थी, बस, मुझे अस्थमा हो गया था। महीनों तक मैं उसकी तकलीफ से गुजरता रहा और मुझे सांस लेने में भी तकलीफ होती थी। कई बार तो खिड़की से बाहर कूद जाने की मेरी इच्छा होती। सिर पर कंबल डाले जड़ी-बूटियों की भाप लेने से भी मेरे सिर दर्द में कोई कमी न आती। लेकिन जैसा कि डॉक्टर ने कहा था, अंततः मैं ठीक हो जाऊंगा, मैं ठीक हो ही गया।

इस दौरान की मेरी स्मृतियां स्पष्ट और धूमिल होती रहती हैं। सबसे उल्लेखनीय छवि तो हमारी दयनीय हालात का निचाट कछार है। मुझे याद नहीं पड़ता कि उन दिनों सिडनी कहां था। चूंकि वह मुझसे चार बरस बड़ा था, वह

कभी-कभार ही मेरे चेतन में आता। ऐसा हो सकता है कि मां की तंग हालत के कारण वह नाना के पास रह रहा हो। हम अपना डोरा-डंडा उठाये एक गरीबखाने से दूसरे गरीबखाने की ओर कूच करते रहते और अंतत: 3 पाउनाल टैरेस की दुछत्ती पर आ बसे थे।

मुझे अपनी गरीबी के सामाजिक कलंक का अच्छी तरह से भान था। गरीब से गरीब बच्चे भी रविवार की शाम को घर के बने डिनर का लुत्फ ले ही लिया करते थे। घर पर कोई भुनी हुई चीज का मतलब सम्मानजनक स्थिति हुआ करता था जो एक गरीब को दूसरे गरीब से अलग करती थी। वे लोग, जो रविवार की शाम घर पर डिनर के लिए नहीं बैठ पाते थे, उन्हें भिखमंगे वर्ग का माना जाता था और हम उसी वर्ग में आते थे। मां मुझे नजदीकी कॉफी शॉप से छ: पेनी का डिनर (मीट और दो सब्जियां) लेने के लिए भेजती और सबसे ज्यादा शर्म की बात ये होती कि ये रविवार की शाम होती। मैं उसके आगे हाथ जोड़ता कि वह घर पर ही कोई चीज क्यों नहीं बना लेती और वह बेकार में ही यह समझाने की कोशिश करती कि घर पर ये ही चीजें बनाने में दुगुनी लागत आयेगी।

अलबत्ता, एक सौभाग्यशाली शुक्रवार को, जब उसने घुड़दौड़ में पांच शिलिंग जीते थे, मुझे खुश करने की नीयत से मां ने तय किया कि वह रविवार के दिन डिनर घर पर ही बनायेगी। दूसरी स्वादिष्ट चीजों के अलावा वह भूनने वाला मांस भी लायी जिसके बारे में वह तय नहीं कर पा रही थी कि ये गाय का मांस है या गुर्दे की चर्बी का लोंदा है। ये लगभग पांच पौंड का था और उस पर चिप्पी लगी हुई थी,'भूनने के लिए।'

हमारे पास क्योंकि ओवन नहीं था, इसलिए मां ने उसे भूनने के लिए मकान-मालकिन का ओवन इस्तेमाल किया और बार-बार उसकी रसोई के भीतर आने-जाने की जहमत से बचने के लिए अंदाज से उस मांस के लोंदे को भूनने के लिए ओवन का टाइम सेट कर दिया और उसके बाद ही वह रसोईघर में गयी। और हमारी बदकिस्मती से हुआ ये कि हमारा यह मांस का पिंड क्रिकेट की गेंद के आकार का ही रह गया था। इसके बावजूद, मां के इस दृढ़ निश्चय के बावजूद कि हमारा खाना बाहर के छ: पेंस के खाने से कम तकलीफदेह और ज्यादा स्वादिष्ट होता है, मैंने उस भोजन का भरपूर आनंद लिया और यह महसूस किया कि हम भी किसी से कम नहीं।

हमारे जीवन में अचानक एक परिवर्तन आया। मां अपनी एक पुरानी सहेली से मिली जो बहुत समृद्ध पहुंचेली चीज बन गयी थी, खूबसूरत हो गयी थी और चलती-पुरजी टाइप की महिला बन गयी थी। उसने एक अमीर बूढ़े कर्नल की मिस्ट्रैस बनने के लिए स्टेज को अलविदा कह दी थी।

वह स्टॉकवेल के फैशनपरस्त जिले में रहा करती थी और मां से फिर से मिलने के अपने उत्साह में उसने हमें आमंत्रित किया कि गर्मियों में हम उसके यहां आ कर रहें। चूंकि सिडनी गांवों की तरफ मस्ती मारने के लिए गया हुआ था इसलिए मां को मनाने में जरा भी तकलीफ नहीं हुई और उसने अपनी सूई और कसीदेकारी के हुनर से अपने-आपको काफी ढंग का बना लिया था और मैंने अपना संडे सूट पहन लिया। यह अष्टम बाल मंडली का अवशेष था और इस मौके के हिसाब से ठीक-ठाक लग रहा था।

और इस तरह रातों-रात हम लैंसडाउन स्क्वायर में कोने वाले एक बहुत ही शांत मकान में पहुंचा दिये गये। ये घर नौकरों-चाकरों से भरा हुआ था। वहां गुलाबी और नीले बैडरूम थे, छींट के परदे थे और सफेद भालू के बालों के नमदे थे। मुझे कितनी अच्छी तरह से याद हैं डाइनिंग रूम के साइड बोर्ड को सजाने वाले बड़े नीले हॉटहाउस ग्रेप्स की और मुझे यह बात कितनी लज्जा से भर देती जब मैं देखता कि वे रहस्यमय तरीके से गायब होते चले जा रहे हैं और हर दिन बीतने के साथ उनके ढांचे भर नजर आने लगे थे।

घर के भीतर काम करने के लिए चार औरतें थीं। रसोईदारिन और तीन नौकरानियां। मां और मेरे अलावा वहां पर एक और मेहमान थे। बहुत तनावग्रस्त, एक सुदर्शन युवक जिनकी कुतरी हुई लाल मूंछें थीं। वे बहुत ही आकर्षक व्यक्तित्त्व के मालिक थे और बहुत सज्जन थे। वे उस घर में स्थायी सामान की तरह थे लेकिन सफेद मूंछों वाले कर्नल महाशय के नजर आने तक ही। उनके आते ही वह खूबसूरत नौजवान गायब हो जाता।

कर्नल महोदय का आना कभी-कभार ही होता। हफ्ते में दो-एक बार। जब वे वहां होते तो पूरे घर में एक रहस्य का आवरण तना रहता और उनकी मौजूदगी हर जगह महसूस की जाती और मां मुझे बताती कि उनके सामने न पड़ा करूं और उन्हें नजर न आऊं। एक दिन मैं ठीक उसी वक्त हॉल में जा पहुंचा जब वे सीढ़ियों से नीचे उतर रहे थे।

वे लम्बे, भव्य, राजसी ठाठ-बाठ वाले व्यक्ति थे और उन्होंने फ्रॉक कोट और टॉप हैट पहने हुए थे। उनका चेहरा गुलाबी था। लम्बी सफेद कलमें चेहरे

पर दोनों तरफ काफी नीचे तक थीं और सिर गंजा था। वे मेरी तरफ देख कर शिष्टता से मुस्कुराये और अपने रास्ते चले गये।

मैं समझ नहीं पाया कि उनके आने के पीछे ये सब क्या हंगामा था और उनके आते ही क्यों अफरा-तफरी मच जाती थी लेकिन वे कभी भी बहुत अधिक अरसे तक नहीं रहे और कुतरी मूंछों वाला नौजवान जल्दी ही लौट आता और सब कुछ पहले की तरह सामान्य ढंग से चलने लगता।

मैं कुतरी हुई मूंछों वाले नौजवान का मुरीद हो गया। हम दोनों क्लाफाम कॉमन तक लम्बी सैर पर जाते और हमारे साथ मालकिन के दो खूबसूरत ग्रेहाउंड कुत्ते होते। उन दिनों क्लाफाम कॉमन का माहौल बेहद खूबसूरत हुआ करता था। यहां तक कि कैमिस्ट की दुकान भी, जहां हम अक्सर खरीदारी किया करते थे, फूलों के अर्क की गंध, इत्रों और साबुनों और पाउडरों के साथ भव्य लगा करती थी। मेरे अस्थमा के इलाज के लिए उन्होंने मां को बताया था कि रोज सवेरे वह मुझे ठंडे पानी से नहलाया करे और शायद इससे फायदा भी हुआ। ये स्नान बहुत ही स्वास्थ्यकर थे और मैं उन्हें पसंद करता हुआ बड़ा हुआ।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि हम किस सफाई से अपने आपको सामाजिक मान-मर्यादाओं के अनुसार ढाल लेते हैं। आदमी उपलब्ध सृष्टि की भौतिक सुविधाओं के साथ कितनी अच्छी तरह से एकाकार और आदी हो जाता है। एक सप्ताह के भीतर ही मेरे लिए सब कुछ सहज स्वीकार्य हो चला था। बेहतर होने का बोध - सुबह सवेरे की औपचारिकताएं, कुत्तों को एक्सरसाइज कराना, उनके नये चमड़े के पट्टे लिये जाना, फिर खूबसूरत घर में वापिस लौटना, जहां चारों तरफ नौकर-चाकर हों, शानदार तरीके से चांदी के बरतनों में परोसे जाने वाले लंच की प्रतीक्षा करना।

हमारे घर का पिछवाड़ा एक दूसरे घर के पिछवाड़े से सटा हुआ था और उस घर में भी उतने ही नौकर थे जितने हमारे घर पर थे। उस घर में तीन लोग रहा करते थे, एक युवा दम्पत्ति और उनका एक लड़का जो लगभग मेरी ही उम्र का था। उसके पास एक बालघर था जिसमें बहुत खूबसूरत खिलौने भरे हुए थे। मुझे अक्सर उसके साथ खेलने के लिए बुलवा लिया जाता और रात के खाने के लिए रोक लिया जाता। हम दोनों आपस में बहुत अच्छे दोस्त बन गये थे। उसके पिता सिटी बैंक में किसी बहुत अच्छे पद पर काम करते थे और उसकी मां युवा और बेहद खूबसूरत थी।

एक दिन मैंने अपनी तरफ वाली नौकरानी को लड़के की नौकरानी से गुपचुप बात करते हुए सुन लिया कि उन्हें लड़के के लिए एक गवर्नेस की जरूरत है।

'और इसे भी उसी की जरूरत है।' हमारी वाली नौकरानी ने मेरी तरफ इशारा करते हुए कहा। मैं इस बात से बेहद रोमांचित हो गया कि मेरी भी अमीर लड़कों की तरह देखभाल की जायेगी लेकिन मैं इस बात को कभी भी समझ नहीं पाया कि क्यों उसने मेरा दर्जा इतना ऊपर उठा दिया था। हां, तब की बात अलग है कि वह जिन लोगों के लिए काम करती थी या जिनके पड़ोस में वे लोग रहते थे उनका कद ऊपर उठा कर वह खुद ही अपना दर्जा ऊपर उठाना चाहती हो। आखिर, मैं जब भी पड़ोस के उस छोकरे के साथ खाना खाता था, मुझे कमोबेश यही लगता कि मैं बिन बुलाया मेहमान ही तो हूं।

जिस दिन हम उस खूबसूरत घर से अपने 3 पाउनाल के घर लौटने के लिए वापिस चले, वह उदासी भरा दिन था, फिर भी एक तरह की राहत भी थी कि हम अपनी आजादी में वापिस लौट रहे हैं। मेहमानों के तौर पर वहां रहते हुए आखिर हमें कुछ तनाव तो होता ही था। और जैसा कि मां कहा करती थी, हम केक की तरह थे। अगर उसे बहुत देर तक रखा जाये तो वह बासी और अखाद्य हो जाता है। और इस तरह से उस संक्षिप्त और शानो-शौकत से भरे वक्त के रेशमी तार हमसे छिन गये और हम एक बार फिर अपने जाने-पहचाने फटेहाल तौर-तरीकों में लौट आये।

अध्याय 4

1899 बरस गलमुच्छों का बरस था। गलमुच्छों वाले राजा, राजनयिक, सैनिक और नाविक, क्रूगर, सेलिसबरी, रसोइये, कैसर, और क्रिकेट खिलाड़ी। दिखावे और शोशेबाजी का वाहियात बरस। बेइंतहा अमीरी और बेइंतहा गरीबी का बरस। कार्टून और प्रेस, दोनों की शून्यता से भरे राजनैतिक हठधर्मिता से भरे बरस। लेकिन इंग्लैंड को कई धक्के और बदमगजियां सहनी थीं। अफ्रीकी ट्रांसवाल में कुछ बोअर किसान बिला वजह युद्ध छेड़े हुए थे और बड़े-बड़े पत्थरों के और चट्टानों के पीछे से शानदार निशाने लगाते हुए हमारे लाल कोट धारी सैनिकों को मार रहे थे। तब हमारे युद्ध कार्यालय वालों के दिमाग की बत्ती जली और उन्होंने तुरत-फुरत लाल को खाकी में बदल दिया। अगर बोअर उन्हें इस रूप में मारना चाहें तो भले ही मार सकते हैं।

मुझे युद्ध की थोड़ी बहुत ही जानकारी थी और ये मुझे मिली थी देश भक्ति के गीतों, विविध मंचों पर हास्यमय प्रस्तुतियों और सिगरेट की डिब्बियों पर छपी जनरलों की तस्वीरों के माध्यम से। अलबत्ता, हमारे दुश्मन खत्म न होने वाले विलेन थे। कभी सुनने में आता कि बोअर लोगों ने लेडी स्मिथ को घेर लिया है तो इंग्लैंड मेफकिंग को मुक्त करा लेने के बाद खुशी के मारे पागल हो गया है। आखिरकार हम जीत ही गये, बेशक ये जीत भी परेशान ही करने वाली थी। अलबत्ता, मैं ये सारी बातें सबसे सुनता था लेकिन मां इस बारे में कुछ नहीं बताती थी। उसने कभी भी लड़ाई का जिक्र नहीं किया। उसके पास लड़ने के लिए खुद की लड़ाइयां थी।

सिडनी अब चौदह बरस का हो चला था। उसने स्कूल छोड़ दिया था और उसे स्ट्रैंड डाक घर में तार वाले के रूप में काम मिल गया था। सिडनी की पगार और मां की सिलाई मशीन की वजह से होने वाली कमाई से हमारा घर किसी तरह ठीक-ठाक चल रहा था लेकिन इसमें मां का योगदान मामूली ही था। वह मजदूरों का खून चूसने वाली किसी दुकान के लिए काम करती थी और उसे वहां पर ब्लाउज सीने के एवज में एक दर्जन ब्लाउज के लिए एक शिलिंग और छः पेंस मिलते थे। हालांकि उसे डिजाइन पहले से ही कट कर मिला करते थे, फिर भी एक दर्जन ब्लाउज सीने में उसे पूरे बारह घंटे लग जाया करते थे। मां का रिकार्ड था एक हफ्ते में चौदह दर्जन ब्लाउज सी कर देने का। इससे उसे छः शिलिंग और नौ पेंस की कमाई हुई थी।

अक्सर रात को मैं अपनी दुछत्ती में लेटा जागता रहता और उसे अपनी मशीन पर झुके काम करते देखा करता। उसका सिर तेल की कुप्पी की रोशनी में झुका रहता और उसका चेहरा नरम छाया में नजर आता। उसके होंठ तनाव के कारण थोड़े से खुले होते और वह अपनी मशीन पर तेजी से सिलाई का काम करती रहती और उसके इस काम की उबा देने वाली भिन-भिन की आवाज की वजह से मुझे झपकी आ जाती। वह जब भी रात-बेरात इस तरह से देर तक काम करती थी तो उसके सामने एक ही मकसद होता - पैसों की अगली किसी न किसी किस्त की मीयाद सिर पर होती। हमेशा किस्तों की अदायगी की समस्या सिर पर खड़ी होती।

अब एक और संकट सिर पर आ खड़ा हुआ था। सिडनी को कपड़ों के नये जोड़े की जरूरत थी। वह अपनी टेलिग्राफ वाली यूनिफार्म हफ्ते के सभी दिन, यहां तक कि रविवारों को भी डाटे रहता था और आखिर एक ऐसा दिन

भी आया कि उसके यार-दोस्त उसे इस यूनिफार्म को लेकर छेड़ने लगे। इस वजह से वह दो हफ्ते तक, उस वक्त तक घर पर ही रहा जब तक मां के पास उसके लिए नीले सर्ज का सूट खरीदने लायक पैसे नहीं हो गये। उसने किसी तरह से अट्ठारह शिलिंग का बंदोबस्त कर ही लिया था। इससे हमारी अर्थव्यवस्था में भारी दिवालियेपन की हालत आ गयी थी। इसलिए मां को मजबूरन हर सोमवार को, जब सिडनी टेलिग्राफ आफिस चला जाता था, सूट गिरवी रखना पड़ता था। उसे सूट के लिए सात शिलिंग मिलते थे। और हर शनिवार को सूट छुड़वा लिया जाता ताकि सिडनी उसे हफ्ते की छुट्टियों के दौरान पहन सके। यह साप्ताहिक व्यवस्था पूरे साल तब तक चलती रही जब तक सूट फट कर तार-तार नहीं हो गया। तभी ये झटका लगा।

सोमवार की सुबह मां हमेशा की तरह गिरवी वाली दुकान पर गयी तो दुकानदार हिचकिचाया, 'माफ करना, मिसेज चौप्लिन, लेकिन अब हम आपको सात शिलिंग उधार नहीं दे सकते।'

मां हैरान रह गयी थी,प्लेकिन क्यों?' उसने पूछा था।

'अब इसमें अच्छा-खासा जोखिम है। पैंट तार-तार हो रही है। देखो तो जरा,' दुकानदार पैंट की सीट पर हाथ रखते हुए बोला, 'आप उसके आर-पार देख सकती हैं।'

'लेकिन इन कपड़ों को अगले हफ्ते छुड़वा लिया जायेगा।' मां ने कहा था।

गिरवी वाले ने सिर हिलाते हुए कहा, 'बहुत हुआ तो मैं आपको कोट और वेस्टकोट के लिए तीन शिलिंग दे सकता हूं।'

मां कभी भी रोती नहीं थी लेकिन इस तरह के अचानक आये धक्के को सह न पाने के कारण वह आंसूं बहाती घर वपिस आयी। पूरा हफ्ता घर की गाड़ी खींचने के लिए उसे इन सात शिलिंग का ही सहारा था।

इस बीच मेरे खुद के कपड़े, कम से कम कहूं तो चीथड़े हो रहे थे। हम अष्टम लंकाशायर बाल गोपालों की जो पोशाक थी, उसकी वाली मेरी पोशाक अब तार-तार हो चली थी। जहां-तहां थिगलियां लगी हुई थीं। कुहनी पर, पैंट पर, जूतों पर और मोजों पर और अपनी इसी हालत में मैं स्टॉकवैल के अपने खास नन्हें दोस्त से जा टकराया। मुझे नहीं पता था कि वह केनिंगटन रोड पर क्या कर रहा था, लेकिन उसे देख कर मैं बहुत परेशानी में पड़ गया था। हालांकि वह मुझसे बहुत प्यार से मिला लेकिन मैं अपनी खस्ता हालत के कारण उससे आंखें भी नहीं मिला पर पा रहा था। अपनी परेशानी को छुपाने के लिए मैंने

अपना आजमाया हुआ तरीका अपनाया और अपनी बेहतरीन, सधी हुई आवाज में उसे बताया कि चूंकि मैं बढ़ईगिरी की अपनी कक्षा से आ रहा हूं इसलिए मैं ये सब पुराने कपड़े पहने हुए हूं।

लेकिन उसे मेरी इस सफाई में जरा सी भी दिलचस्पी नहीं थी। वह जैसे आसमान से गिरा लग रहा था और अपनी हैरानी-परेशानी को छुपाने के लिए दायें बायें देखने लगा। उसने तब मां के बारे में पूछा।

मैंने तत्काल जवाब दिया कि मां तो आजकल गांव गयी हुई है और तब मैंने उसी की तरफ ध्यान देना शुरू किया, 'और सुनाओ, आजकल वहीं रह रहे हो क्या?'

हां।' उसने मुझे ऊपर से नीचे तक इस तरह से घूरते हुए देखा मानो मैंने कोई अपराध कर दिया हो।

अच्छा, तो मैं जरा चलूंगा,' मैंने अचानक कह कर अपनी जान छुड़ायी।

वह सहर्ष मुस्कुराया और अच्छा विदा कह कर चला गया। वह एक तरफ चला और मैं उसकी विपरीत दिशा में बढ़ा। मैं गुस्से और शर्म के कारण गिरते पड़ते भागा जा रहा था।

मां हमेशा कहा करती थी, 'तुम हमेशा अपनी मर्यादा का त्याग कर सकते हो, लेकिन हो सकता है तुम्हें कुछ भी न मिले।' लेकिन वह खुद ही इस सूत्र वाक्य का पालन नहीं करती थी और अक्सर मेरी शिष्टता के बोध को ठेस लगती थी। एक दिन जब मैं ब्राम्पटन अस्पताल से लौट रहा था तो मैंने देखा कि मां कुछ सड़कछाप लड़कों को धकिया रही थी क्योंकि वे एक पागल औरत को सता रहे थे। उस औरत ने बुरी तरह से गंदे चीथड़े लपेटे हुए थे और खुद भी गंदी थी। उसका सिर मुंडा हुआ था और ये उन दिनों असामान्य बात समझी जाती थी। लड़के उस पर हँस रहे थे और एक दूसरे को उस पर धकिया रहे थे और उसे छू नहीं रहे थे मानो उसे छू लेने से उन्हें गंदगी लग जायेगी। वह दुखियारी तब तक हिरणी की तरह सड़क के बीचों-बीच खड़ी रही जब तक जा कर मां ने उसे उन दुष्ट लड़कों से छुड़वा नहीं लिया। तब उस औरत के चेहरे पर पहचान के चिह्न उभरे। उस औरत ने कमजोर आवाज में मां को उसके स्टेज के नाम से पुकारा,ष्तुम मुझे नहीं पहचानती क्या? मैं इवा लेस्टॉक हूं।'

मां ने उसे तुंत पहचान लिया। वह मां के साथ की वैराइटी स्टेज की पुरानी दोस्त थी।

मां की इस बात से मैं इतना परेशान हो गया कि आगे बढ़ गया और आगे कोने पर जा कर मां का इंतजार करने लगा। बच्चे मेरे पास से गुजर गये। वे फब्तियां कस रहे थे और खी-खी करके हँस रहे थे। मैं गुस्से से लाल पीला हो रहा था। मैं ये देखने के लिए मुड़ा कि मां को क्या हो गया है। हे भगवान, वह औरत मां के साथ लग ली थी और अब दोनों मेरी तरफ चली आ रही थीं।

मां ने कहा, 'तुम्हें नन्हें चार्ली की याद है?'

'तुम याद की बात करती हो, जब वो जरा सा था तो मैंने कितनी बार उसे अपनी बांहों में उठाया है।' उस औरत से लाड़ से कहा।

ये विचार ही लिजलिजे थे क्यों कि वह औरत इतनी गंदी और घिनौनी थी। और जब हम चले आ रहे थे तो मुझे इस बात से खासी कोफ्त हो रही थी कि लोग मुड़ मुड़ कर हम तीनों को देख रहे थे।

मां उसे वैराइटी के दिनों से 'डैशिंग इवा लैस्टाक' के नाम से जानती थी। वह उन दिनों आकर्षक और सदाबहार हुआ करती थी, मां ने मुझे ऐसा बताया था। उस औरत ने मां को बताया कि वह बीमार थी और अस्पताल में थी और अस्पताल छोड़ने के बाद से वह मेहराबों के तले और सैल्वेशन आर्मी के रैन बसेरों में ही सो रही थी।

सबसे पहले तो मां ने उसे स्नान के लिए सार्वजनिक स्नानघर में भेजा और उसके बाद, मेरे आतंक की सीमा न रही जब मां उसे अपने साथ हमारी दुछत्ती पर ले आयी। उसकी इस हालत के पीछे उसकी बीमारी ही थी या कोई और कारण, मैं नहीं जान पाया। इससे वाहियात बात और क्या हो सकती थी कि वह सिडनी की आराम कुर्सी वाले बिस्तर में सोयी थी। अलबत्ता, मां ने उसे वे कपड़े निकाल कर दिये जो वह दे सकती थी और उसे दो शिलिंग भी उधार दिये। तीन दिन बाद वह चली गयी और वही आखिरी बार थी जब हमने डैशिंग इवा लैस्टाक ' के बारे में देखा या सुना था।

पिता के मरने से पहले मां ने पाउनाल टैरेस वाला घर छोड़ दिया था और अपनी एक सखी, गिरजा घर की सदस्या और समर्पित ईसाई महिला मिसेज टेलर के घर में एक कमरा किराये पर ले लिया था। वे एक छोटे कद की, लगभग पचास बरस की चौड़े बदन की महिला थीं। उनका जबड़ा चौकोर था और पीला झुर्रियोंदार चेहरा था। उन्हें गिरजा घर में देखते समय मैंने पाया था कि उनके दांत नकली थे। जब वे गातीं तो उनके दांत उनके ऊपरी जबड़े से जीभ पर गिर जाते। बहुत ही मोहक नजारा होता।

उनका व्यवहार प्रभावशाली था और उनके पास अकूत ताकत थी। उन्होंने मां को अपनी ईसाइयत की छत्र-छाया में ले लिया था और अपने बड़े से घर की दूसरी मंजिल पर सामने की तरफ वाला कमरा बहुत ही वाजिब किराये पर दे दिया था। ये घर कब्रिस्तान के पास था।

उनके पति चार्ल्स डिकेंस के मिस्टर पिकविक की हूबहू प्रतिकृति थे और उनके घर की सबसे ऊपर वाली मंजिल पर गणित में काम आने वाले रूलर बनाने का अपना कारखाना था। छत पर आसमानी रोशनी आती और मुझे वह जगह बिलकुल स्वर्गतुल्य लगती। वहां बहुत अधिक शांति होती। मैं अक्सर मिस्टर टेलर को काम करते हुए देखता जब वे अपने मोटे-मोटे कांच वाले चश्मे से और मैग्नीफाइंग ग्लास से गहराई से देख रहे होते और स्टील का कोई स्केल बना रहे होते और इंच के भी पांचवें हिस्से को नाप रहे होते। वे अकेले काम करते और मैं अक्सर उनके छोटे मोटे काम कर दिया करता।

मिसेज टेलर की एक ही इच्छा थी कि वे किसी तरह अपने पति को ईसाई धर्म की ओर मोड़ दें। उनकी धार्मिक नैतिकता के हिसाब से तो उनके पति पापी ही थे। उनकी बेटी जो शक्ल-सूरत में ठीक अपनी मां पर गयी थी, सिर्फ उसका चेहरा कम सूजा हुआ था और हां, वह काफी जवान भी थी, आकर्षक होती अगर उसका व्यवहार ढीठपने का न होता और उसके तौर-तरीके आपत्तिजनक न होते। अपने पिता की तरह वह भी चर्च नहीं जाती थी। लेकिन मिसेज टेलर ने उन दोनों को धर्म की शरण में लाने की उम्मीद कभी भी नहीं छोड़ी। बेटी अपनी मां की आंखों का तारा थी लेकिन मेरी मां की आंखों का नहीं।

एक दोपहरी को, जब मैं ऊपर वाली मंजिल पर मिस्टर टेलर को काम करते हुए देख रहा था, मैंने नीचे से मां और मिसेज टेलर के बीच कहा-सुनी की आवाज सुनी। मिसेज टेलर बाहर थीं। मुझे नहीं पता कि ये सब कैसे शुरू हुआ लेकिन वे दोनों एक दूसरे पर जोर-जोर से चिल्ला रही थीं। जब मैं नीचे सीढ़ियों पर पहुंचा तो मां सीढ़ियों के जंगले पर झुकी हुई थी, 'तुम अपने आपको समझती क्या हो? औरत जात की लेंड़ी?'

'ओह,' बेटी चिल्लायी, 'एक ईसाई औरत की जुबान से कितने शानदार फूल झर रहे हैं?'

'चिंता मत करो,' मां ने तुरंत जवाब दिया,ष्ये सब बाइबिल में है। ओल्ड टेस्टामेंट का पांचवां खंड, अट्ठाइसवां अध्याय, सैंतीसवां पद, हां, वहां इसके लिए एक दूसरा शब्द दिया हुआ है। बस, तुम्हें लेंड़ी शब्द ही सूट करेगा।'

इसके बाद हम अपने पाउनाल टैरेस में वापिस चले आये। केनिंगटन रोड पर श्री स्टैग्स बार इस तरह की जगह नहीं थी जहां मेरे पिता अक्सर जाया करते लेकिन एक बार वहां से गुजरते हुए मुझे पता नहीं ऐसा क्यों लगा कि अंदर झांक कर देखना चाहिये कि कहीं वे भीतर तो नहीं बैठे हैं। मैंने सैलून का दरवाजा कुछ ही इंच खोला था कि वे वहां बैठे हुए मुझे दिखायी दिये। वे एक कोने में बैठे हुए थे। मैं वापिस लौटने ही वाला था कि उनके चेहरे पर चमक उभरी और उन्होंने मुझे अपने पास आने का इशारा किया। मैं इस तरह के स्वागत से हैरान था, क्योंकि वे कभी भी दिखावे में विश्वास नहीं रखते थे। वे बहुत बीमार लग रहे थे। आंखें उनकी भीतर को धंसी हुई थीं और उनका शरीर सूज कर बहुत बड़ा लग रहा था। उन्होंने अपना एक हाथ नेपोलियन की तरह अपने वेस्ट कोट में टिका रखा था मानो अपनी सांस की तकलीफ पर काबू पाना चाहते हों। उस शाम वे बेहद बेचैन थे। वे मां और सिडनी के बारे में पूछते रहे और मेरे चलने से पहले उन्होंने मुझे अपनी बांहों में भरा और पहली बार मुझे चूमा। यही वह आखिरी बार था जब मैंने उन्हें जीवित देखा।

तीन सप्ताह के बाद उन्हें सेंट थॉमस अस्पताल में ले जाया गया। पिताजी को वहां ले जाने के लिए उन लोगों को पिताजी को शराब पिलानी पड़ी थी। जब पिताजी को पता चला कि वे कहां हैं तो वे बुरी तरह से लड़े-झगड़े। लेकिन उनकी हालत मर रहे आदमी जैसी थी। वे मर रहे थे। हालांकि वे अभी भी बहुत जवान थे, मात्रा सैंतीस बरस के, वे जलोदर रोग के कारण मर रहे थे। उन लोगों ने पिताजी के घुटने से चार गैलन पानी निकाला था।

मां उन्हें देखने के लिए कई बार गयी और हर मुलाकात के बाद वह और ज्यादा उदास हो जाती। वह बताती कि पिता फिर उसके पास वपिस आ कर अफ्रीका में नये सिरे से जिंदगी शुरू करना चाहते हैं। मैं इस तरह की संभावना से ही खिल उठता। मां सिर हिलाती, क्योंकि वह बेहतर जानती थी, 'वे ये बात सिर्फ इसलिए कह रहे थे क्योंकि वे अच्छे दिखना चाहते थे।' मां ने बताया था।

एक दिन जब वह अस्पताल से वपिस आयी तो रेवरेंड जॉन मैकनील एवेंजलिस्ट की बात सुन कर बहुत खफा थी। जब मां पिताजी से मिलने गयी थी तो तो वे पिता से कह रहे थे, 'देखो, मिस्टर चार्ली, जब भी मैं तुम्हारी तरफ देखता हूं तो मुझे एक पुरानी कहावत ही याद आती है कि जो जैसा बोएगा, वैसा ही काटेगा।'

'मरते हुए आदमी को दिलासा देने के लिए आप कितनी अच्छी वाणी बोल रहे हैं,' मां ने पलट कर जवाब दिया था। कुछ ही दिन बाद पिताजी की मृत्यु हो गयी थी।

अस्पताल वाले जानना चाहते थे कि उनका अंतिम संस्कार कौन करेगा। मां के पास तो एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी इसलिए उसने वैराइटी आर्टिस्ट सहायता निधि का नाम सुझाया। ये थियेटर वालों की एक चौरिटी संस्था थी। इस सुझाव से परिवार के चौप्लिन कुनबे वालों में अच्छा खासा हंगामा मच गया। चौप्लिन परिवार का आदमी खैरात के पैसों से दफनाया जाये, ये बात वे कैसे गवारा कर सकते थे। उस समय पिताजी के एक छोटे भाई अल्बर्ट लंदन में ही थे। वे अफ्रीका से आये हुए थे। उन्होंने पिताजी को दफनाने का खर्चा उठाने का जिम्मा उठाया। ताबूत पर सफेद साटन का कफन लपेटा गया था और पिताजी के चेहरे के चारों उसके तरफ डेजी के नन्हें नन्हें सफेद फूलों से सजाया गया था। मां का कहना था कि वे इतने सादगी-भरे और मन को छू लेने वाले लग रह थे। मां ने पूछा था कि ये फूल किसने रखवाये हैं। वहां पर मौजूद कर्मचारी ने बताया था कि सुबह-सुबह एक औरत एक छोटे-से बच्चे के साथ आयी थी और ये फूल रख गयी थी। वह लुइस थी।

पहली गाड़ी में मां, अंकल अल्बर्ट और मैं थे। टूटिंग तक की यात्रा तनाव पूर्ण थी क्योंकि मां इससे पहले कभी भी अंकल अल्बर्ट से नहीं मिली थी। वह कुछ-कुछ ठाठ-बाठ वाले आदमी थे और अभिजात्य संस्कारों वाले शख्स थे। हालांकि वे बहुत विनम्र थे, उनका व्यवहार बर्फ की तरह ठंडा था। उनकी ख्याति एक अमीर आदमी के रूप में थी। ट्रांसवाल में घोड़ों के उनके रैंच थे और बोअर युद्ध के दौरान उन्होंने ब्रिटिश सरकार को घोड़े उपलब्ध कराये थे।

सर्विस के दौरान बरसात होने लगी थी। कब्र खोदने वालों ने फटाफट ताबूत पर मिट्टी के लोंदे फेंके। इससे बहुत ही क्रूर किस्म की आवाज हो रही थी। ये भयावह नजारा था और कुल मिला कर बेहद डरावना था इसलिए मैं रोने लगा। इसके बाद रिश्तेदारों ने अपने साथ लायी मालाएं और फूल उस पर डाले। मां के पास डालने के लिए कुछ भी नहीं था, इसलिए उसने मेरा बेशकीमती काले बार्डर वाला रुमाल लिया और मेरे कान में फुसफुसायी, 'मेरे लाल, ये हम दोनों की तरफ से।' इसके बाद चौप्लिन परिवार रास्ते में एक पब में खाना खाने के लिए रुक गया और उन्होंने भीतर जाने से पहले हमसे बहुत विनम्रता से पूछा कि हमें कहां छोड़ दिया जाये। और हमें घर छोड़ दिया गया था।

जब हम घर पहुंचे तो घर में खाने को एक दाना भी नहीं था। बीफ के थोड़े शोरबे की एक प्लेट रखी थी। मां के पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी। उसके पास सिर्फ दो पेंस थे जो उसने सिडनी को खाने का इंतजाम करने के लिए दे दिये थे। पिताजी की बीमारी के बाद उसने बहुत कम काम हाथ में लिया था इसलिए अब हफ्ता खत्म होने को था और टेलिग्राफ बाय के रूप में सिडनी की सात शिलिंग हफ्ते की पगार पहले ही खत्म हो चुकी थी। अंतिम संस्कार के बाद हमें भूख लगी हुई थी। सौभाग्य से रद्दी वाला बाहर से गुजर कर जा रहा था। मां के पास तेल का एक पुराना स्टोव था जिसे मां ने बहुत संकोच के साथ अधपेनी में बेचा और उस अधपेनी की ब्रेड लायी जिसे हमने उस शोरबे के साथ खाया।

मां चूंकि पिता की कानूनन विधवा थी इसलिए उसे अगले दिन बताया गया कि वह अस्पताल जा कर उनका सामान वगैरह ले ले। इस सामान में एक काला सूट था जिसमें खून के दाग लगे हुए थे। एक जांघिया था, एक कमीज, एक काली टाई, एक पुराना ड्रेसिंग गाउन, घर पर पहनने की कुछ पुरानी चप्पलें, जिनमें पंजों की तरफ कुछ ठुंसा हुआ था। जब मां ने वह बाहर निकाला तो स्लीपरों में सोने का एक सिक्का बाहर लुढ़क आया। ये भगवान की भेजी हुई सौगात थी।

हफ्तों तक हम अपने बाजू पर काली क्रेप की पट्टी लगाये रहे। शोक का ये संकेत भी मेरे लिए फायदेमंद रहा क्योंकि शनिवार की दोपहर के वक्त जब मैं फूल बेचने के काम धंधे पर निकलता तो मुझे इससे फायदा ही होता। मैंने मां को मना लिया था कि वह मुझे एक शिलिंग उधार दे दे। मैं सीधे ही फूल बाजार गया और नार्सीसस के फूलों के दो बंडल खरीदे और स्कूल से आने के बाद मैं उनके नन्हें-नन्हें बंडल बनाने में जुटा रहा। अगर सब बिक जाते तो मैं सौ प्रतिशत लाभ कमा सकता था। मैं सैलूनों में जाता जहां मैं अपने संभावित ग्राहक तलाशता कहता, 'नार्सीसिस मैडम, मिस .. .. नार्सीसिस के फूल मिस।' महिलाएं हमेशा पूछतीं, 'कौन था बेटे?' मैं अपनी आवाज फुसफुसाहट के स्तर तक ले आता और बताता, 'मेरे पिता।' और वे मुझे टिप देतीं। मां ये देख कर हैरान रह गयी कि मैं सिर्फ दोपहर में काम करके पांच शिलिंग कमा लाया था। एक दिन उसने मुझे झिड़क दिया जब उसने मुझे एक पब से बाहर आते देखा। उस दिन से उसने मेरे फूल बेचने पर पाबंदी लगा दी। उसका ये मानना था कि बार रूम में जा कर इस तरह से फूल बेचना उसकी ईसाईयत को कहीं ठेस

लगाता था, 'दारू पीने से तुम्हारे पिता मर गये और इस तरह की कमाई से हम पर दुर्भाग्य का ही साया पड़ेगा,' उसने कहा। अलबत्ता, उसने सारी कमाई रख ली थी। उसने फिर कभी मुझे फूल बेचने नहीं दिये।

मुझमें धंधा करने की जबरदस्त समझ थी। मैं हमेशा कारोबार करने की नयी-नयी योजनाएं बनाने में उलझा रहता। मैं खाली दुकानों की तरफ देखता, सोचता, इनमें पैसा पीटने का कौन सा धंधा किया जा सकता है। ये सोचना मछली बेचने, चिप्स बेचने से ले कर पंसारी की दुकान खोलने तक होता। हमेशा जो भी योजना बनती, उसमें खाना जरूर होता। मुझे बस पूंजी की ही जरूरत होती लेकिन पूंजी ही की समस्या थी कि कहां से आये। आखिर मैंने मां से कहा कि वह मेरा स्कूल छुड़वा दे और काम तलाशने दे।

मैंने कई धंधे किये। पहले मैं एक बिसाती की दुकान में ऊपर के काम करने के लिए रखा गया। काम करने के बाद मैं तहखाने में खुशी-खुशी बैठा रहता, वहां साबुन, स्टार्च, मोमबत्तियों, मिठाइयों तथा बिस्किटों से घिरा रहता। मैं सारी की सारी मिठाइयां चख कर तब तक देखता रहा जब तक खुद बीमार नहीं पड़ गया।

इसके बाद मैंने थ्रॉगमोर्टन एवेन्यू में हूल एंड किन्स्ले टेलर, बीमा डॉक्टरों के यहां काम किया। ये काम मेरे हिस्से में सिडनी की वजह से आया था। उसी ने इस काम के लिए मेरी सिफारिश की थी। मुझे हर हफ्ते के बारह शिलिंग मिलते थे और मुझे रिसेप्शनिस्ट के रूप में काम करना होता था। इसमें डॉक्टरों के चले जाने के बाद दफ्तरों को साफ करने की ड्यूटी भी शामिल थी। रिसेप्शनिस्ट के रूप में मैं बहुत सफल था क्योंकि मैं वहां पर इंतजार कर रहे मरीजों का खूब मनोरंजन करता लेकिन जब दफ्तरों की सफाई का नम्बर आता तो मेरा दिल डूबने लगता। इस काम में सिडनी बेहतर था। मैं पेशाब के पॉट साफ करने में बुरा नहीं मानता था, लेकिन दस-दस फुटी खिड़कियों को साफ करना मेरे लिए आकाशगंगा निकालने जैसा था। इसका नतीजा यह हुआ कि दफ्तर गंदे और धूल भरे होते चले गये और एक दिन आया जब मुझे विनम्रतापूर्वक बता दिया गया कि मैं इस काम के लिए बहुत ही छोटा हूं।

जिस वक्त मैंने यह खबर सुनी, मैं अपने आपको संभाल नहीं पाया और रो पड़ा। डॉक्टर किन्स्ले टेलर, जिन्होंने एक बहुत ही अमीर महिला से शादी की थी और उन्हें शादी में लेसेन्स्टर गेट पर बहुत बड़ा मकान मिला हुआ था, ने मुझ पर तरस खाया और मुझसे कहा कि वे मुझे अपने घर में ऊपर के काम

के लिए पेजबॉय के रूप में रखवा देंगे। तुरंत ही मेरा दिल बाग-बाग हो गया। किसी निजी घर में पेजबॉय, और घर भी कैसा, बहुत खूबसूरत। ये अच्छा काम था। इसका कारण यह था कि मैं घर भर की नौकरानियों का दुलारा बन गया था। वे मुझसे बच्चे की तरह व्यवहार करतीं और रात को बिस्तर पर जाने से पहले गुड नाइट किस देतीं। अगर मेरी किस्मत में लिखा होता तो मैं बटलर बन गया होता। मैडम ने मुझसे कहा कि मैं तहखाने में जा कर उस जगह को साफ करूं जहां पर पैकिंग वाली पेटियों का ढेर लगा हुआ था और कचरे का अम्बार लगा हुआ था जिसे साफ करना, अलग करना और फिर से लगाना था। मेरा ध्यान इस काम से उस वक्त बंट गया जब मेरे हाथ में लगभग आठ फुट लम्बा लोहे का एक पाइप आ गया और मैं उसे बिगुल की तरह बजाने लगा। जिस वक्त मैं उसके मजे ले रहा था, मैडम अवतरित हुईं और मुझे तीन दिन का नोटिस दे दिया गया।

मुझे स्टेशनरी की एक दुकान डब्ल्यू एच स्मिथ एंडरसन में काम करने में बहुत मजा आया लेकिन उन्हें जैसे ही पता चला कि मेरी उम्र कम है तो उन्होंने बाहर का रास्ता दिखा दिया। फिर मैं एक दिन के लिए ग्लास ब्लोअर बना। मैंने स्कूल में ग्लास ब्लोइंग के बारे में पढ़ा था और मुझे लगा, ये बहुत ही रोमांचकारी काम होगा। लेकिन गर्मी मेरे सिर पर चढ़ गयी और मुझे बेहोशी की हालत में बाहर लाया गया और रेत की ढेरी पर लिटा दिया गया। यहीं पर इसकी इतिश्री हो गयी। मैं इस इकलौते दिन की पगार लेने भी नहीं गया। इसके बाद मैंने स्ट्रेकर, पिंटर और स्टेशनर्स के यहां काम किया। मैंने वहां पर झूठ बोला कि मैं व्हार्फेडेल पिंटिंग मशीन चला सकता हूं। ये बहुत ही बड़ी मशीन थी। लगभग बीस फुट लम्बी। मैंने इस मशीन को गली से तहखाने में चलते हुए देखा था और मुझे लगा कि इसे चलाना तो बेहद आसान होगा। एक कार्ड पर लिखा था व्हार्फेडेल प्रिंटिंग मशीन के लिए कागज चढ़ाने वाला लड़का चाहिये। जब फोरमैन मुझे मशीन के पास लाया तो ये मुझे दैत्याकार सरीखी लगी। इसे चलाने के लिए मुझे पांच फुट ऊंचे एक प्लेटफार्म पर खड़ा होना पड़ा। मुझे लगा मानो मैं एफिल टावर के ऊपर खड़ा हूं।

'मारो इसे,' फोरमैन ने कहा।

'क्या मारूं?'

मुझे हिचकिचाते देख, वह हँसा, 'तो इसका मतलब तुमने व्हार्फेडेल प्रिंटिंग मशीन पर कभी काम नहीं किया है?'

'मुझे बस, एक मौका दीजिये, मैं एकदम तेजी से इसे चलाना सीख जाऊंगा।'

'इसे मारो' का मतलब था उस दैत्य को शुरू करने के लिए लीवर को खींचो। मशीन घूमने, चलने और घुरघुराने लगी। मुझे लगा ये मशीन तो मुझे ही निगल जायेगी। कागज बहुत ही बड़े बड़े थे। इतने बड़े कि आसानी से मुझे एक कागज में लपेटा जा सकता था। एक बड़े से गत्ते से मैं कागजों को पंखा करता, उन्हें कोनों से उठाता, और ठीक वक्त पर मशीन के जबड़ों में धर देता ताकि वह दैत्य उन्हें निगल जाये, उस पर छापे और दूसरे सिरे पर वापिस उगल दे। पहले दिन तो मैं उसे इतना घबराया हुआ था कि कहीं ये भूखा दैत्य मुझे ही न चबा जाये। इसके बावजूद मुझे बारह शिलिंग हफ्ते की पगार पर नौकरी पर रख लिया गया।

दिन निकलने से पहले, उन ठंडी सुबहों में काम पर निकलने का अपना ही रोमांच था। गलियां शांत और सुनसान होतीं। इक्का-दुक्का छायाएं लोखार्ट के टी-रूम की मध्यम रोशनी में नाश्ते के लिए आते जाते दिखायी देतीं। ऐसा लगता मानो आप अपने साथ के लोगों के साथ हैं, उस धुंधलके में गरम चाय पीते हुए और आगे मुंह बाये खड़े दिन भर के काम के बावजूद क्षणिक राहत पाते हुए। और फिर प्रिंटिंग का काम इतना उबाऊ भी नहीं था। बस, हफ्ते के आखिर में काम बहुत करना पड़ता, गिलेटिन के उन लम्बे रोलरों पर से स्याही हटाने का काम करना पड़ता। इन रोलरों का वजन सौ पौंड से भी ज्यादा होता। बाकी कुछ मिला कर काम सहन करने योग्य था। अलबत्ता, वहां पर तीन हफ्ते तक काम करने के बाद मुझे इन्फ्लुंजा ने धर दबोख और मां ने जिद की कि मैं वपिस स्कूल की राह पकडूं।

सिडनी अब सोलह बरस का हो चला था। एक दिन वह खुशी-खुशी घर आया क्योंकि उसे अफ्रीका जाने वाले एक जहाज में डोनोवन लाइन पैसेंजर बोट पर बिगुल बजाने वाले का काम मिल गया था। उसका काम था खाने वगैरह के लिए बुलाने के लिए बिगुल बजाना। उसने बिगुल बजाना एक्समाउथ ट्रेनिंग कैम्प में सीख लिया था। अब वह सीखना काम आ रहा था। उसे हर महीने दो पाउंड और दो शिलिंग मिलते और सेकेंड क्लास में तीन मेजों पर सर्व करने के लिए टिप अलग से मिलती। उसे जहाज पर जाने से पहले पैंतीस शिलिंग अग्रिम रूप से मिलने वाले थे। तय था वह ये रकम मां को दे कर जाने वाला था। इस

सुखद भविष्य के सपने संजोये हम चेस्टर स्ट्रीट में एक नाई की दुकान के ऊपर दो कमरे वाले मकान में आ गये।

अपनी ट्रिप से जब सिडनी पहली बार लौटा तो यह मौका उत्सव की तरह था। क्योंकि उसके पास टिप से कमाये तीन पाउंड से भी ज्यादा की रकम थी और ये चांदी के थे। मुझे याद है वह अपनी जेबों से बिस्तर पर से अपनी दौलत लुढ़काता जा रहा था। ये पैसे इतने ज्यादा लगे मुझे जितने मैंने अपनी जिंदगी में नहीं देखे थे और मैं उन पर से अपने हाथ हटा ही नहीं पा रहा था। मैंने उनकी ढेरियां लगायीं, चट्टे लगाये और उनके साथ तब तक खेलता रहा जब मां और सिडनी ने आखिर कह ही दिया कि मैं नदीदा हूं।

क्या तो शान थी। क्या ही मस्ती थी। ये गर्मी के दिन थे और ये हमारे केक और आइसक्रीम खाने का काल था। इनके अलावा और भी कई विलासिताएं राह देख रही थीं। हमने नाश्ते में ब्लोटर, किप्पर, हैड्डाक मछली खायीं और चाय केक का आनंद लिया, और इतवार के दिन बंद और कटलेट खाये।

सिडनी को सर्दी ने जकड़ लिया और वह कई दिन तक बिस्तर पर पड़ा रहा। मां और मैं उसकी तीमारदारी करते रहे। तभी यह हुआ कि हमने खूब छक कर आइसक्रीम खायी। मैं एक बड़े से गिलास में एक पेनी की ले कर आया। मैं ये गिलास इताल्वी आइसक्रीम की दुकान में ले गया था और वह गिलास और एक पेनी देख कर अच्छा खासा चिढ़ा था। दुकानदार ने सुझाव दिया कि अगली बार मैं आऊं तो अपने साथ एक बाथ टब ले कर आऊं। गर्मियों में हमारा प्रिय ड्रिंक होता था शरबत और दूध। खूब झागदार दूध में बुलबुले छोड़ता शरबत, बस पीते ही तबीयत खुश हो जाती।

सिडनी ने हमें अपनी समुद्री यात्रा के बहुत से रोचक किस्से सुनाये। अभी उसने अपनी यात्रा शुरू भी नहीं की थी एक बार उसकी नौकरी पर ही बन आयी। उसने लंच के लिए पहला बिगुल बजाया। बिगुल बजाने की उसकी प्रेक्टिस नहीं रही थी और सारे फौजी खूब हो हल्ला करने लगे। मुख्य स्टीवर्ड भागता हुआ आया, 'ऐय तुम क्या कर रहे हो?'

'सॉरी सर, मेरे होंठ अभी बिगुल पर सेट नहीं हुए हैं।'

'ठीक है, ठीक है, जल्दी से अपने होंठ सेट कर लो नहीं तो जहाज चलने से पहले ही तुम्हें तट पर ही उतार देना पड़ेगा।'

खाने के दौरान किचन के बाहर सब वेटरों की लम्बी-लम्बी कतारें लग जातीं जो अपने-अपने आर्डर का सामान ले रहे होते। जब तक सिडनी का नम्बर आता, वह अपना आर्डर ही भूल चुका होता और उसे एक बार फिर लाइन के आखिर में खड़ा होना पड़ता। सिडनी ने बताया कि पहले कुछ दिन तो ये हालत रही कि बाकी सब तो अपनी स्वीट डिश खा रहे होते और उसकी मेज पर अभी भी सूप ही सर्व हो रहा होता।

सिडनी तब तक घर पर रहा जब तक सारे पैसे खत्म नहीं हो गये। अलबत्ता, उसे दूसरी ट्रिप के लिए भी बुक कर लिया गया। उसे कम्पनी से एक बार फिर पैंतीस शिलिंग अग्रिम रूप से मिले जो उसने मां को दे दिये। लेकिन ये रकम ज्यादा दिन नहीं चली। तीन ही हफ्ते बाद हम बर्तनों की तली में झांक रहे थे। सिडनी के वपिस आने में अभी भी तीन हफ्ते बाकी थे। मां हालांकि अभी भी अपनी सिलाई मशीन पर काम कर ही रही थी, जो कुछ वह कमा रही थी, हम दोनों के लिए काफी नहीं था। नतीजा यह हुआ कि हम एक बार फिर पाउनाल हॉल लौट आये।

लेकिन मैं कुछ न कुछ जुगाड़ कर ही लिया करता था। मां के पास पुराने कपड़ों का एक ढेर लगा हुआ था। एक दिन शनिवार की सुबह थी। मैंने मां को सुझाव दिया कि क्यों न मैं कोशिश करूं और बाजार में जा कर इन्हें बेच आऊं। मां इस बात को ले कर थोड़ी परेशान हो गयी। उसका कहना था कि ये सब किसी काम के नहीं हैं। इसके बावजूद मैंने एक पुरानी चादर में कपड़ों की पोटली बांधी और नेविंगटन बट्ट की ओर चल पड़ा। वहां जा कर मैंने अपना माल असबाब फुटपाथ पर फैलाया और गटर पर खड़े हो कर आवाजें लगानी शुरू कर दीं। मेरी दुकानदारी बहुत ही दयनीय हालत में थी। 'देखिये साहेबान, मेहरबान, कदरदान,' मैंने एक पुरानी कमीज हाथ में उठायी और बोलना शुरू किया, 'बोलिये साहेबान क्या देते हैं इसका? एक शिलिंग, छः पेंस, चार पेंस दो पेंस।' मैं उसे एक पेनी में भी न बेच पाया। लोग-बाग आते, खड़े होते, हैरानी से देखते, और हँसते हुए चले जाते। मैं परेशान होना शुरू हो गया। सामने की जवाहरात की दुकान की खिड़की से वहां के मालिकों ने मुझे देखना शुरू कर दिया। लेकिन मैंने हिम्मत नहीं हारी। आखिरकार, गेलिस की एक जोड़ी जो इतनी खराब नहीं लग रही थी, मैं छः पेंस में बेचने में सफल हो ही गया। लेकिन मुझे वहां पर खड़े हुए जितनी देर होती जा रही थी, मैं उतना ही बेचैन होता जा रहा था। थोड़ी देर बाद उस जवाहरात की दुकान में से एक महाशय आये और

भारी रूसी लहजे में मुझसे पूछने लगे कि मैं इस धंधे में कब से हूं। उसके विनम्र चेहरे के बावजूद मैंने ताड़ लिया कि उसके बात करने के लहजे में मजाक उड़ाने का सा भाव था। मैंने उसे बताया कि बस अभी शुरू ही किया है। वह धीरे-धीरे अपनी दुकान पर लौट गया और, खींसे निपोरते अपने दो भागीदारों के पास लौट गया और फिर से वे दुकान की खिड़की में से मुझे देखने लगा। अब बहुत हो गया था। मैंने अपनी दुकानदारी समेटी और घर वपिस लौट आया। मैंने मां को बताया कि मैंने छः पेंस में गेटर्स बेचे हैं तो वह हिकारत से बोली, अच्छे भले थे वो तो, उसे ज्यादा पैसों में बेचा जा सकता था।

यह एक ऐसा वक्त था जब हम किराया देने के बारे में ज्यादा माथा-पच्ची नहीं करते थे। हमने आसान तरीका यह अपनाया कि जब किराया वसूल करने वाला आता तो सारा दिन गायब ही रहते। हमारे सामान की कीमत ही क्या थी? दो कौड़ी। उसे कहीं और ढो कर ले जाने में ज्यादा पैसे लगते। अलबत्ता, हमारी मंजिल एक बार फिर 3 पाउनाल टेरेस थी।

उसी समय मुझे एक ऐसे बूढ़े आदमी और उसके बेटे के बारे में पता चला जो केनिंगटन रोड के पिछवाड़े की तरफ एक घुड़साल में काम करते थे। वे खिलौने बनाने वाले घुमंतू लोग थे और ग्लासगो से आये थे। वे लोग खिलौने बनाते थे और शहर-दर-शहर घूमते हुए उन्हें बेचते थे। वे बंधन मुक्त थे और उन पर कोई जिम्मेवारी नहीं थी, इसलिए मैं उनसे ईर्ष्या करता था। उनके धंधे के लिए बहुत ही कम पूंजी की जरूरत थी। एक शिलिंग की मामूली रकम लगा कर वे धंधा शुरू कर सकते थे। वे जूतों के डिब्बे इकट्ठे करते। कोई भी दुकानदार खुशी-खुशी ये डिब्बे उन्हें दे देता। फिर वे अंगूरों की पैकिंग में इस्तेमाल होने वाला बुरादा जुटाते। यह भी उन्हें सेंत मेंत में मिल जाता। उन्हें शुरुआत में जिन मदों के लिए पूंजी लगानी पड़ती, वे थीं, एक पेनी की गोंद, एक पेनी के क्रिस्मस वाली रंगीन पन्नियां, और दो पेनी के रंगीन झालर के गोले। एक शिलिंग की पूंजी से वे सात दर्जन नावें बना लेते और एक-एक नाव एक एक पेनी की बिकती। नाव के दोनों तरफ के हिस्से जूतों के डिब्बों में से काट लिये जाते, और उन्हें गत्ते के तले के साथ सी दिया जाता। साफ सतह पर गोंद फेर दिया जाता और फिर उस पर कॉर्क का बुरादा छिड़क दिया जाता। मस्तूलों को रंगीन झालरों से सजा दिया जाता और सबसे ऊपर वसले मस्तूल, नाव के आगे और पीछे वाले हिस्से पर और पाल फैलाने के डंडों के आखिरी सिरे पर लाल, पीले और नीले झंडे लगा दिये जाते। सौ या उससे भी अधिक इस तरह

की रंगीन पन्नियों वाली नावें ग्राहकों को आकर्षित करतीं और इन्हें आसानी से बेचा जा सकता था।

हमारे परिचय का नतीजा यह हुआ कि मैं नावें बनाने में उनकी मदद करने लगा और जल्दी ही मैं उनके हुनर से वाकिफ हो गया। जब वे लोग हमारा पड़ोस छोड़ कर गये तो मैं खुद उनके धंधे में उतर गया। छः पेंस की मामूली सी पूंजी और कार्ड बोर्ड काटने से हाथों में हुए छालों के साथ मैं एक ही हफ्ते में तीन दर्जन नावें बनाने में कामयाब हो गया था।

लेकिन हमारी परछत्ती पर इतनी जगह नहीं थी कि मां के काम और मेरे धंधे के लिए जगह हो पाती। इसके अलावा मां की शिकायत थी कि उसे उबलते हुए गोंद की बू से उबकाई आती है और ये भी था कि गोंद का डिब्बा हर समय उसके सीये जाने वाले कपड़ों के लिए मुसीबत बन रहा था। संयोग से, सारे घर भर में ये कपड़े बिखरे ही रहते। अब चूंकि मेरा योगदान मां के योगदान की तुलना में मामूली ही था, मेरी कला को तिलांजलि दे दी गयी।

इन दिनों हम अपने नाना से बहुत कम मिले थे। पिछले एक बरस से उनकी सेहत ठीक नहीं चल रही थी। उनके हाथ गठिया की वजह से सूज गये थे और इस कारण वे जूते गांठने का अपना धंधा नहीं कर पाते थे। पहले के वक्त में जब भी उनसे बन पड़ता, वे एकाध सिक्का दे कर मां की मदद कर दिया करते थे। कभी-कभी वे हमारे लिए खाना भी बना दिया करते। वे ओट के आटे और प्याज को दूध में उबाल कर और उस पर नमक और काली मिर्च बुरक कर शानदार दलिये जैसा व्यंजन बनाया करते थे। सर्दी की रातों में ठंड का मुकाबला करने के लिए यह हमारा सबसे बढ़िया खाना होता।

जब मैं बच्चा था तो मैं नाना को हमेशा खरदिमाग और खड़ूस बूढ़ा समझा करता था जो मुझे हर वक्त किसी न किसी बात के लिए टोकते ही रहते थे। कभी व्याकरण के लिए तो कभी तमीज के लिए। इन छोटी-मोटी मुठभेड़ों के कारण ही मैंने उन्हें नापसंद करना शुरू कर दिया था। अब वे अस्पताल में अपने जोड़ों के दर्द की वजह से पड़े हुए थे और मां उन्हें रोज देखने के लिए अस्पताल जाती। अस्पताल की ये विजिटें बहुत फायदे की होतीं क्योंकि वह अक्सर थैला भर ताजे अंडे ले कर वपिस आती। ये हमारी मुफलिसी के दिनों में विलासिता की तरह होते। जब वह खुद न जा पाती तो मुझे भेज देती। मुझे यह देख कर हमेशा बहुत हैरानी होती जब मैं नाना को बहुत ज्यादा सहमत और मेरे आने से खुश पाता। वे नर्सों में खासे लोकप्रिय थे। बाद की जिंदगी में उन्होंने मुझे बताया

था कि वे नर्सों के साथ चुहलबाजी करते और उन्हें बताते कि जोड़ों के दर्द के बावजूद उनकी सारी मशीनरी काम से बेकार नहीं हुई है। इस तरह की अश्लील चुहलबाजी नर्सों को खुश कर देती। जब उनके जोड़ों का दर्द काबू में रहता तो वे जा कर रसोई में काम करते, और इस तरह से हमारे पास अंडे आते। विजिट वाले दिनों में वे आम तौर पर अपने बिस्तर पर ही होते और अपने बिस्तर के पास वाले केबिनेट से चुपके से अंडों का एक बड़ा-सा थैला थमा देते, जिसे मैं चलने से पहले नाविकों वाली अपनी बनियान में छुपा लेता।

हम कई-कई हफ्ते अंडों पर ही गुजार देते। उनका कुछ न कुछ बना ही लेते। उबले हुए, तले हुए या उनका कस्टर्ड ही बना लेते। बेशक नाना इस बात का विश्वास दिलाते कि सारी नर्सें उनकी दोस्त हैं और कमोबेश जानती हैं कि क्या कुछ चल रहा है, अस्पताल के वार्ड से उन अंडों के साथ बाहर निकलते समय हमेशा मुझे खटका लगा रहता। कभी लगता कि मैं मोम से चिकने फर्श पर फिसल कर गिर पड़ूंगा या मेरा फूला हुआ पेट पकड़ में आ जायेगा। इस बात की हैरानी होती थी कि जब भी मैं अस्पताल से बाहर आने को होता, सारी की सारी नर्सें वहां से गायब हो जातीं। हमारे लिये ये बहुत ही दु:खद दिन था जब नाना को अपने जोड़ों के दर्द से आराम आ गया और उन्हें अस्पताल छोड़ना पड़ा।

अब छ: सप्ताह बीतने को आये थे और सिडनी अब तक नहीं लौटा था। शुरू-शुरू में तो मां इससे इतनी चिंता में नहीं पड़ी लेकिन एक और हफ्ते की देरी के बाद मां ने डोनोवन एंड कैसल लाइन नाम के जहाज के दफ्तर को लिखा तो वहां से यह खबर मिली कि उसे जोड़ों के दर्द के इलाज के लिए केप टाउन के तट पर जहाज से उतार दिया गया है। इस खबर से मां चिंता में पड़ गयी और इससे उसकी सेहत पर बुरा असर पड़ा। अभी भी वह सिलाई मशीन पर काम कर रही थी और मैं भी इस मामले में किस्मत वाला था कि मुझे स्कूल के बाद एक परिवार में नृत्य के लैसन देने का काम मिल गया था और मुझे हफ्ते के पांच शिलिंग मिल जाया करते थे।

लगभग इन्हीं दिनों मैक्कार्थी परिवार केनिंगटन रोड पर रहने आया। मिसेज मैक्कार्थी आयरिश कामेडियन रही थीं और मां की सहेली थीं। उनकी शादी एक सर्टिफाइड एकांउटेंट वाल्टर मैक्कार्थी से हुई थी। लेकिन जब मां को मजबूरन स्टेज छोड़ देना पड़ा तो हम लोगों की मैक्कार्थी परिवार से मिलने-जुलने की संभावना ही नहीं रही और अब वे सात बरस के बाद एक बार फिर मिल रहे

थे। अब वे लोग केनिंगटन रोड के खास इलाके में वाल्कॉट मैन्सन में रहने के लिए आ गये थे।

उनका बेटा वैली मैक्कार्थी और मैं लगभग एक ही उम्र के थे। जब हम छोटे थे तो बड़े लोगों की नकल किया करते थे मानो हम रंगारंग कार्यक्रम के कलाकार हों। हम काल्पनिक सिगार पीते, अपनी कल्पना की घोड़ी वाली बग्घी में सैर करते, और अपने माता-पिता का खूब मनोरंजन किया करते थे।

अब चूंकि मैक्कार्थी परिवार वाल्कॉट मैन्सन में रहने के लिए आ गया था, मां उनसे मिलने शायद ही कभी गयी हो लेकिन मैंने और वैली ने पक्की दोस्ती कर ली थी। स्कूल से वपिस लौटते ही मैं भाग कर मां के पास यह पूछने के लिए जाता कि मेरे लायक कोई काम तो नहीं है, फिर मैक्कार्थी परिवार के यहां भागा-भागा पहुंच जाता। हम वाल्कॉट मैन्सन के पिछवाड़े थियेटर खेलते। मैं चूंकि निर्देशक बनता इसलिए मैं हमेशा खलनायक वाले पात्र अपने लिए रखता। मैं अपने आप ही यह जानता था कि खलनायक का पात्र नायक की तुलना में ज्यादा रंगीन होता है। हम वैली के खाने के समय तक खेलते रहते। आम तौर पर मुझे भी बुलवा लिया जाता। खाने के समय के आस-पास मैंने अपने आप को उपलब्ध कराने के अचूक खुशामदी तरीके खोज निकाले थे। अलबत्ता, ऐसे मौके भी आते जब मेरी सारी तिकड़में काम न आतीं और मैं संकोच के साथ घर लौट आता। मां मुझे देख कर हमेशा खुश होती और मेरे खाने के लिए कुछ न कुछ बना देती। कभी शोरबे में तली हुई ब्रेड या नाना के यहां से जुटाये गये अंडों का कोई पकवान और एक कप चाय। वह मुझे कुछ न कुछ पढ़ कर सुनाती या हम दोनों एक साथ खिड़की पर बैठ जाते और वह नीचे सड़क पर जा रहे राहगीरों के बारे में मजेदार बातें करके मेरा दिल बहलाती। उनके बारे में वह किस्से गढ़ कर सुनाती। यदि कोई आदमी खुशमिजाज, फिरकी जैसी चाल के साथ जा रहा होता तो मां कहती, 'देखो जा रहे हैं श्रीमान हेपांडस्कौच, बेचारे शर्त लगाने की जगह जा रहे हैं। अगर आज उनकी किस्मत ने साथ दिया तो वह अपनी गर्लफ्रेंड के लिए दो सीटों वाली पुरानी साइकिल खरीदेंगे।'

जब कोई आदमी धीमी गति से कदम गिनते हुए गुजरता तो मां का किस्सा होता, 'देखो बेचारे को, घर जा रहा है और उसे पता है आज खाने में उसे फिर से वही कद्दू मिलने वाला है। वह कद्दू से नफरत करता है।'

कोई अपनी ऐंठ में ही चला जा रहा होता तो मां कहती, 'देखो, ये सभ्य समाज के सज्जन जा रहे हैं। लेकिन फिलहाल तो वे अपनी पैंट में हो गये छेद की वजह से खासे परेशान हैं।'

इसके बाद एक और आदमी तेज-तेज चाल से लपकता हुआ गुजर जाता, 'उस भले आदमी ने अभी-अभी ईनो की खुराक ली है और . ....।' और इस तरह से किस्से चलते रहते और हम हँस-हँस कर दोहरे हो जाते।

एक और सप्ताह बीतने को आया था लेकिन अभी भी सिडनी का कोई समाचार नहीं मिला था। अगर मैं और छोटा होता और मां की चिंता के प्रति ज्यादा संवेदनशील होता तो मैं महसूस कर सकता था कि उसके दिल पर क्या गुजर रही थी। मैंने तब इस बात को देखा होता कि वह कई दिनों से खिड़की की सिल पर ही बैठी बाहर देखती रहती थी। उसने कई दिन से कमरे को साफ तक नहीं किया था और बेहद शांत होती चली गयी थी। मैं शायद तब भी चिंता में पड़ा होता जब कमीजें बनाने वाली फर्म ने उसके काम में मीन-मेख निकालनी शुरू कर दी थी और उसे और काम देना बंद कर दिया था और जब वे बकाया किस्तों की अदायगी न होने के कारण सिलाई मशीन ही उठा कर ले गये और जब नृत्य के पाठ से होने वाली मेरी पांच शिलिंग की कमाई भी अचानक बंद हो गयी तो शायद इस सबके बीच मैंने इस बात पर ध्यान दिया हो कि मां लगातार उदासीन और किंकर्तव्यविमूढ़ बनी रही थी।

अचानक मिसेज मैक्कार्थी की मृत्यु हो गयी। वे कुछ अरसे से बीमार चल रही थीं। उनकी हालत खराब होती चली गयी और अचानक वे गुजर गयी थीं। तत्काल ही मेरे दिमाग में ख्यालों ने हमला बोल दिया। कितना अच्छा होता अगर मिस्टर मैक्कार्थी मां से विवाह कर लेते। वैली और मैं तो अच्छे दोस्त थे ही। इसके अलावा, ये मां की समस्याओं का आदर्श हल भी होता।

संस्कार के तुरंत बाद मैंने मां से इस बात के बारे में बात की,'अब तुम इसे अपनी दिनचर्या बना लो मां कि अक्सर मिस्टर मैक्कार्थी से मिल लिया करो। मैं शर्त बद कर कह सकता हूं कि वे तुमसे शादी कर लेंगे।'

मां कमजोरी से मुस्कुरायी, 'उस बेचारे को एक मौका तो दो,' मां ने जवाब दिया।

'मां, अगर तुम ढंग से तैयार हो जाया करो और अपने आपको आकर्षक बना लो, जैसा तुम पहले हुआ करती थी तो वे जरूर तुम्हें पसंद कर लेंगे। लेकिन तुम तो अपनी तरफ से कोई कोशिश ही नहीं करती, बस, इस गंदे कमरे में पसरी बैठी रहती हो और वाहियात नजर आती हो।'

बेचारी मां, मैं अपने इन शब्दों पर कितना अफसोस करता हूं। मैं इस बात को कभी सोच ही नहीं पाया कि वह खाना पूरा न मिलने के कारण कमजोर थी। इसके बावजूद अगले दिन, पता नहीं उसमें कहां से इतनी ताकत आ गयी, उसने सारा कमरा साफ-सूफ कर दिया। स्कूल में गर्मियों की छुट्टियां शुरू हो गयी थीं। इसलिए मैंने सोचा, मैक्कार्थी परिवार के यहां थोड़ा पहले ही चला जाऊं। अपने उस मनहूस दड़बे से बाहर निकलने का कोई तो बहाना चाहिये ही था। उन्होंने मुझे लंच तक रुकने का न्यौता दिया था। लेकिन मुझे ऐसा आभास हो रहा था कि मुझे मां के पास वपिस लौट जाना चाहिये। जब मैं पाउनाल टैरेस वपिस पहुंचा तो पड़ोस के कुछ बच्चों ने मुझे गेट के पास ही रोक लिया, 'तुम्हारी मां पागल हो गयी है, एक छोटी सी लड़की ने कहा।

ये शब्द तमाचे की तरह मेरे मुंह पर आ लगे।

'क्या मतलब है तुम्हारा?' मैं घिघियाया।

'यह सच है,' दूसरी ने बताया।

'वो सारे घरों के दरवाजे खटखटाती फिर रही थी और हाथ में कोयले के टुकड़े ले कर बांटती फिर रही थी कि ये बच्चों के लिए जन्मदिन का उपहार है। चाहो तो तुम मेरी मां से भी पूछ सकते हो।'

और कुछ सुने बिना मैं रास्ते से दौड़ा, खुले दरवाजे से घर के भीतर गया, फलांगता हुआ सीढ़ियां चढ़ा और अपने कमरे का दरवाजा खोला। एक पल के लिए अपनी सांस पर काबू पाने के लिए मैं थमा और मां को गहरी नजर से देखने लगा। ये गरमी की दोपहरी थी और माहौल घुटा-घुटा सा और दबाव महसूस कराने वाला था। मां हमेशा की तरह खिड़की पर बैठी हुई थी। वह धीमे से मुड़ी और उसने मेरी तरफ देखा। उसका चेहरा पीला और पीड़ा से ऐंठा हुआ लग रहा था।

'मां,' मैं लगभग चिल्ला उठा।

'क्या हुआ?' मां ने निर्विकार भाव से पूछा।

तब मैं दौड़ कर गया और अपने घुटनों के बल गिरा और उसकी गोद में अपना मुंह छुपा लिया। जोर से मेरी रुलाई फूट पड़ी।

'रुको, रुको, बेटे,' वह हौले से मेरा सिर सहलाते हुए बोली, 'क्या हो गया मेरे बच्चे?'

'तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है,' मैं सुबकते हुए चिल्लाया।

वह मुझे आश्वस्त करते हुए बोली, 'मैं तो बिल्कुल चंगी हूं।'

वह बहुत ज्यादा खोयी-खोयी और ख्यालों में डूबी रही थी।

'नहीं,नहीं, वे सब बता रहे हैं कि तुम सब घरों में फिरती रही थी और. . .. और ...' मैं अपना वाक्य पूरा नहीं कर पाया, लेकिन सुबकता रहा।

'मैं सिडनी की तलाश कर रही थी,' वह कमजोरी से बोली, 'वे उसे मुझसे दूर रखे हुए हैं।'

तब मुझे पता चला कि जो कुछ बच्चे बता रहे थे, वह सही था।

'ओह मां, इस तरह की बातें मत करो। नहीं, नहीं,' मैं सुबकने लगा, 'मैं तुम्हारे लिए डॉक्टर बुलवाता हूं।'

वह मेरा सिर सहलाते हुए बोलती रही, 'मैक्कार्थी जी को मालूम है कि वह कहां है और वे उसे मुझे दूर रखे हुए हैं।'

'मम्मी, मम्मी, मुझे जरा डाक्टर को बुलवा लेने दो,' मैं चिल्लाया। मैं उठा और सीधे दरवाजे की तरफ लपका।

मां ने दर्दभरी निगाहों से मेरी तरफ देखा और पूछा, 'कहां जा रहे हो?'

'डॉक्टर को लिवाने। मुझे ज्यादा देर नहीं लगेगी।'

मां ने कोई जवाब नहीं दिया लेकिन मेरी तरफ चिंतातुर निगाहों से देखती रही। मैं तेजी से लपक कर नीचे गया और मकान मालकिन के पास पहुंचा।

'मुझे तुरंत डॉक्टर को बुलवाना पड़ेगा। मां की हालत ठीक नहीं है।'

'हमने पहले ही डॉक्टर को बुलवा लिया है।' मकान मालकिन ने बताया।

•

खैराती डॉक्टर बूढ़ा और चिड़चिड़ा था। मकान मालकिन की दास्तान सुन लेने के बाद, जो कमोबेश बच्चों के बताये किस्से जैसी ही थी, उसने मां की सरसरी तौर पर जांच की।

'पागल . . . इसे आप अस्पताल भिजवाइये,' कहा उसने।

डॉक्टर ने एक पर्ची लिखी। दूसरी बातों के अलावा इसमें यह लिखा था कि वह कुपोषण की मरीज थी। डॉक्टर ने इसका मतलब मुझे यह बताया कि उसे पूरी खुराक नहीं मिलती रही है।

मकान मालकिन ने मुझे दिलासा देते हुए कहा, 'ठीक हो जायेगी बेटा, और उसे वहां खाना भी ठीक तरह से मिलेगा।'

मकान मालकिन ने मां के कपड़े-लत्ते जमा करने में मेरी मदद की और उसे कपड़े पहनाये। मां एक बच्चे की तरह सारी बातें मानती रही। वह इतनी कमजोर थी कि उसकी इच्छा शक्ति ने मानो उसका साथ छोड़ दिया हो। जब

हम घर से चले तो पास-पड़ोस के बच्चे और पड़ोसी मजमा लगाये गेट के पास खड़े थे और इस अनहोनी को देख रहे थे।

अस्पताल लगभग एक मील दूर था। जब हम वहां के लिए चल रहे थे तो मां कमजोरी के कारण किसी शराबी औरत की तरह लड़खड़ा कर चल रही थी और दायें-बायें झूम रही थी। मैं उसे किसी तरह संभाले हुए था। उस दोपहरी में धूप का तीखापन हमें अपनी गरीबी का अहसास बेदर्दी से करवा रहा था। जो लोग हमारे आस-पास से गुजर कर जा रहे थे जरूर सोच रहे होंगे कि मां ने पी रखी है, लेकिन मेरे लिए वे सपने में अजगरों की तरह थे। वह बिल्कुल भी नहीं बोली लेकिन शायद वह जानती थी कि उसे कहां ले जाया जा रहा है और उसे वहां पहुंचने की चिंता भी थी। रास्ते में मैंने उसे आश्वस्त करने की कोशिश की और वह मुस्कुरायी भी। लेकिन यह मुस्कुराहट बेहद कमजोर थी।

आखिरकार जब हम अस्पताल में पहुंचे तो एक युवा डॉक्टर ने मां को अपनी देखभाल में ले लिया। नोट को पढ़ने के बाद उसने दयालुता से कहा, 'ठीक है मिसेज चौप्लिन, आप इधर से आइये।'

मां ने चुपचाप उसकी बात मान ली। लेकिन जब नर्सें उसे ले जाने लगीं तो वह अचानक मुड़ी और दर्द भरी निगारहों से मुझे देखने लगी। उसे पता चल गया था कि वह मुझे छोड़ कर जा रही है।

'मां, मैं कल आऊंगा,' मैंने कमजोर उत्साह से कहा।

जब वे उसे ले जा रहे थे तो वह पीछे मुड़-मुड कर मेरी तरफ चिंतातुर निगाहों से देख रही थी। जब वह जा चुकी तो डाक्टर ने मुझसे कहा, 'अब तुम्हारा क्या होगा, मेरे नौजवान दोस्त?'

अब तक मैं यतीनखानों के स्कूलों की बहुत रोटियां तोड़ चुका था इसलिए मैंने लापरवाही से जवाब दिया, 'मैं अपनी आंटी के यहां रह लूंगा।'

जब मैं अस्पताल से घर की तरफ वपिस लौट रहा था मैं सिर्फ सुन्न कर देने वाली उदासी ही महसूस कर पा रहा था। इसके बावजूद मैं राहत महसूस कर रहा था। क्योंकि मैं जानता था कि अस्पताल में मां की बेहतर देखभाल हो पायेगी बजाये घर के अंधेरे में बैठे रहने के जहां खाने को एक दाना भी नहीं हैं, लेकिन जब वे लोग उसे ले जा रहे थे जो जिस तरह से उसने दिल चीर देने वाली निगाह से मुझे देखा था, वह मैं कभी भी भूल नहीं पाऊंगा। मैंने उसके सभी सहन करने के तरीकों के बारे में सोचा, उसकी चाल के बारे में सोचा, उसके दुलार और उसके प्यार के बारे में सोचा, और मैंने उस कृष काया के बारे

में सोचा जो थकी हारी नीचे आती थी और अपने ही ख्यालों में खोयी रहती थी और मुझे अपनी तरफ लपकते हुए आते देखते ही जिसके चेहरे पर रौनक आ जाती थी। किस तरह से वह एकदम बदल जाती थी और जब मैं उसके लिफाफे की तलाशी लेने लगता था जिसमें वह मेरे और सिडनी के लिए अच्छी-अच्छी चीजें लाती थी तो उसके चेहरे के भाव कितने अच्छे हो जाते थे और वह मुस्कुराने लगती थी। यहां तक कि उस सुबह भी उसने मेरे लिए कैंडी बचा कर रखी थी और जिस वक्त मैं उसकी गोद में रो रहा था, उसने मुझे कैंडी दी थी।

मैं सीधा घर वपिस नहीं गया। मैं जा ही नहीं सका। मैं नेविंगटन बट्स मार्केट की तरफ मुड़ गया और दोपहर ढलने तक दुकानों की खिड़कियों में देखता रहा। जब मैं अपनी परछत्ती पर वपिस लौटा तो वह हद दरजे तक खाली-खाली लग रही थी। एक कुर्सी पर पानी का टब रखा हुआ था। पानी से आधा भरा हुआ। मेरी दो कमीजें और एक बनियान उसमें भिगोने के लिए रखे हुए थे। मैंने तलाशना शुरू किया। घर में खाने को कुछ भी नहीं था। अलमारी में सिर्फ चाय की पत्ती का आधा भरा पैकेट रखा हुआ था। मेंटलपीस पर मां का पर्स रखा हुआ था जिसमें मुझे तीन पेनी के सिक्के और गिरवी वाली दुकान की कई पर्चियां मिलीं। मेज के कोने पर वही कैंडी रखी हुई थी जो उसने मुझे सुबह दी थी। जब मैं अपने आपको संभाल नहीं पाया और फूट-फूट कर रोया।

भावनात्मक रूप से मैं चुक गया था। उस रात मैं गहरी नींद सोया। सुबह मैं जागा तो कमरे का खालीपन भांय-भांय कर रहा था। फर्श पर बढ़ती आती सूर्य की किरणें जैसे मां की गैर-मौजूदगी का अहसास करवा रही थीं। बाद में मकान मालकिन आयी और बताने लगी कि मैं वहां पर तब तक रह सकता हूं जब तब वह कमरा किराये पर नहीं दे देती और अगर मुझे खाने की जरूरत हो तो मुझे कहने भर की देर होगी। मैंने उसका आभार माना और उसे बताया कि जब सिडनी वपिस आयेगा तो उसके सारे कर्जे उतार देगा। लेकिन मैं इतना शरमा रहा था कि खाने के लिए कह ही नहीं पाया।

हालांकि मैंने मां से वायदा किया था कि अगले दिन उससे मिलने जाऊंगा लेकिन मैं नहीं गया। मैं जा ही नहीं पाया। जाने का मतलब उसे और विचलित करना होता। लेकिन मकान मालकिन डॉक्टर से मिली। डॉक्टर ने उसे बताया कि मां को पहले ही केन हिल पागल खाने में ले जाया जा चुका है। इस उदासी भरी खबर ने मेरी आत्मा पर से बोझ हटा दिया क्योंकि केन हिल पागलखाना वहां से बीस मील दूर था और वहां तक जाने का मेरे पास कोई जरिया नहीं

था। सिडनी जल्दी ही लौटने वाला था और तब हम दोनों उसे देखने जा पाते। पहले कुछ दिन तक तो मैं न अपने किसी परिचित से मिला और न ही किसी से बात ही की।

मैं सुबह-सुबह ही घर से निकल जाता और सारा दिन मारा-मारा फिरता। मैं कहीं न कहीं से खाने का जुगाड़ कर ही लेता। इसके अलावा, एक आध बार का खाना गोल कर जाना कोई बड़ी बात नहीं थी। एक सुबह जब मैं चुपके से सरक कर बाहर जा रहा था तो मकान मालकिन की निगाह मुझ पर पड़ गयी और उसने पूछा कि क्या मैंने नाश्ता किया है।

मैंने सिर हिलाया, वह मुझे अपने साथ ले गयी, 'तब चलो मेरे साथ,' उसने अपनी भारी आवाज में कहा।

मैं मैक्कार्थी परिवार से दूर-दूर ही रहा क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि उन्हें मां के बारे में पता चले। मैं किसी भगोड़े सैनिक की तरह सबकी निगाहों से बचता ही रहा।

मां को गये एक सप्ताह बीत चुका था और मैंने राम भरोसे रहने की आदत डाल ली थी जिस पर न तो अफसोस किया जा सकता था और न ही उसे आनंददायक ही कहा जा सकता था। मेरी सबसे बड़ी चिंता मकान मालकिन थी क्योंकि अगर सिडनी वपिस न आया तो देर-सबेर वह मेरे बारे में सुधारगृह वालों को बता ही देगी और मुझे एक बार फिर हैनवेल स्कूल में भेज दिया जायेगा, इसलिए मैं उसके सामने पड़ने से कतरा रहा था और कई बार तो बाहर ही सो जाता।

मैं लकड़ी चीरने वाले कुछ लोगों से जा टकराया जो केनिंगटन रोड के पिछवाड़े की तरफ एक घुड़साल में काम करते थे। ये सड़क छाप से दिखने वाले लोग थे जो एक अंधेरे से भरे दालान में काम करते थे और फुसफुसा कर बातें करते, सारा दिन लकड़ियां चीरते और कुल्हाड़ी से उनकी फांकें तैयार करते। बाद में वे उनके आधी-आधी पेनी के बंडल बना देते। मैं उनके खुले दरवाजे के आस-पास मंडराता रहता और उन्हें काम करते हुए देखता। उनके पास एक फुट का लकड़ी का गुटका होता। वे उसकी पतली-पतली फांकें बनाते और फिर से इन फांकों को तीलियों में बदल डालते। वे इतनी तेजी से लकड़ियां चीरते कि मैं हैरान हो कर देखता ही रह जाता। मुझे उनका ये काम बेहद आकर्षित करता। जल्द ही मैं उनकी मदद करने लगा। वे अपने लिए लकड़ी के लट्ठे इमारतें गिराने वाले ठेकेदारों से लाते और उन्हें ढो कर शेड तक लाते,

उनके चट्टे बना कर रखते। इस काम में पूरा एक दिन लग जाता। फिर वे एक दिन लकड़ियां चीरने का काम करते और उससे अगले दिन उसकी तीलियां बनाते। शुक्रवार और शनिवार वे जलावन की लकड़ियां बेचने के लिए निकलते लेकिन बेचने के काम में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी। शेड में काम करना कहीं ज्यादा रोमांचक लगता था।

वे लोग तीस और चालीस बरस की उम्र के बीच के शालीन, शांत लोग थे। हालांकि वे बरताव बड़ी उम्र के लोगों का करते और लगते भी ज्यादा उम्र के थे। बॉस (जैसा कि हम उसे कहा करते थे) मधुमेह की वजह से लाल नाक वाला था। उसके ऊपर के दांत झड़ गये थे, बस एक ही दांत लटकता रहता लेकिन फिर भी न जाने क्यों उसके चेहरे में अपनेपन का अहसास होता था। अच्छा लगता था वह। वह अजीब तरीके से हँसता जिससे उसका इकलौता दांत दिखायी देने लगता। जब चाय के लिए एक और कप की जरूरत होती तो वह दूध का टिन उठाता, उसे धोता, पोंछता और कहता, 'क्या ख्याल है इसके बारे में?'

दूसरा आदमी हालांकि सहमत लगता, शांत, सूजे से चेहरे वाला, मोटे होंठों वाला, व्यक्ति था। वह बहुत धीरे-धीरे बोलता, एक बजे के करीब बॉस मेरी तरफ देखता, 'ऐय क्या तुमने कभी चीज की पपड़ी से बना अधपके मांस का स्वाद लिया है?'

'हमने इसे कई बार खाया है,' मैं जवाब देता।

तब ठहाके लगाते हुए और खींसे निपोरते हुए वह मुझे दो पेंस देता और मैं ऐश की राशन की दुकान पर जाता, ये कोने पर चाय की दुकान थी। वह मुझे पसंद करता था और मेरे पैसों पर हमेशा ढेर सारी चीजें दे दिया करता। मैं वहां से एक पेनी की चीज की पपड़ी लेता, और एक पेनी की बेड। चीज को धो लेने और उसकी पपड़ियां बना लेने के बाद हम उसमें पानी मिलाते, थोड़ा नमक और काली मिर्च डालते, कई बार बॉस उसमें थोड़ी सी सूअर की चर्बी और कतरे हुए प्याज भी छोड़ देता और ये सारी चीजें मिल कर चाय के कैन के साथ बहुत ही पेट भर कर खाने वाला मामला हो जाता।

हालांकि मैं कभी पैसों के लिए पूछता नहीं था, हफ्ता बीतने पर बॉस ने मुझे छः पेंस दिये। ये मेरे लिए सुखद आश्चर्य था। जो, जिसका चेहरा फूला हुआ था, को मिर्गी के दौरे पड़ते। तब बॉस उसे होश में लाने के लिए उसकी नाक के नीचे खाकी कागज जला कर उसे सुंघाता। कई बार तो उसके मुंह से झाग

निकलने शुरू हो जाते और वह अपनी जीभ काटने लगता। जब वह होश में आता तो बेहद दयनीय और शर्मिंदा लगता।

लकड़हारे सुबह सात बजे से लेकर रात के सात बजे तक काम करते रहते। कई बार उसके बाद भी। जब वे शेड में ताला लगा कर घर की तरफ रवाना होते, मैं हमेशा उदास हो जाया करता। एक दिन बॉस ने तय किया कि वह हम सबको ट्रीट देगा और साउथ म्यूजिक हॉल में दो पेनी की गेलरी सीटों पर शो दिखायेगा। मैं और जो पहले ही हाथ मुंह धो चुके थे और बॉस का इंतजार कर रहे थे। मैं बेहद रोमांचित था क्योंकि उस हफ्ते फ्रेड कार्नो की कॉमेडी अर्ली बर्ड्स (इस कम्पनी में मैं कई बरस बाद शामिल हुआ) चल रहा था। जो घुड़साल की दीवार के सहारे खड़ा हुआ था और मैं उसके सामने उत्साहित और रोमांचित खड़ा हुआ था। तभी अचानक जोने बहुत तेज आवाज में चीख मारी और उसे दौरा पड़ा और वह उसी में दीवार के सहारे ही नीचे गिर गया। जो होना था, वह कुछ ज्यादा ही था। जब जोको होश आया तो बॉस चाहते थे कि वे वहीं रुक कर उसकी देखभाल करें लेकिन जो ने जिद की कि वह एकदम ठीक है और हम दोनों उसके बगैर चले जायें। वह सुबह तक एकदम चंगा हो जायेगा।

स्कूल की धमकी एक ऐसी दानव था जिसने कभी भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा। बीच-बीच में लकड़ी चीरने वाले मुझसे स्कूल के बारे में सवाल पूछ लेते। जब छुट्टियां खत्म हो गयीं तो वे थोड़े से बेचैने हो गये। अब मैं साढ़े चार बजे तक, यानी स्कूल के छूटने के वक्त तक गलियों में मारा-मारा फिरता, लेकिन ये बहुत मुश्किल काम था। बेमतलब गलियों में फिरते रहना और साढ़े चार बजे तक इंतजार करना जब मैं अपनी राहत की जगह पर और लकड़ी चीरने वालों के पास लौट सकता।

एक रात जब मैं चुपके से सोने के लिए अपने बिस्तर में सरक रहा था, मकान मालकिन मुझसे मिलने के लिए आयी। वह बेचारी मेरी राह देखती बैठी थी। वह बहुत उत्तेजित थी। उसने मुझे एक तार थमाया जिस पर लिखा था, 'कल सुबह दस बजे वाटरलू स्टेशन पर पहुंचूंगा। प्यार, सिडनी।

जिस वक्त मैं उससे स्टेशन पर मिला तो मेरी हालत वाकई खराब थी। मेरे कपड़े गंदे और फटे हुए थे और मेरी कैप में से धागे इस तरह से लटके हुए थे मानो किसी लड़की के स्कर्ट के नीचे झालरें लटकती नजर आती हैं। मैंने लकड़ी चीरने वालों के यहां ही मुंह धो लिया था और इस तरह से मैं तीसरी मंजिल तक दो डोल पानी के भर कर ले जाने और मकान मालकिन की रसोई

के आगे से गुजरने की जहमत उठाने से बच गया था। जब मैं सिडनी से मिला तो मेरे कानों और गर्दन के आस-पास रात की गंदगी और मैल की परत दिखायी दे रही थी।

मेरी तरफ देखते हुए सिडनी ने पूछा, 'क्या हुआ है?'

मैंने सीधे ही खबर नहीं दी। थोड़ा वक्त लिया, 'मां पागल हो गयी है और हमें उसे अस्पताल भेजना पड़ा।'

उसका चेहरा चिंता से घिर गया लेकिन उसने अपने आप पर काबू पा लिया, 'तो तुम कहां रह रहे हो इस वक्त?'

'वहीं पाउनाल टैरेस'

वह अपना सामान देखने के लिए मुड़ा। उसने एक हाथ गाड़ी का आर्डर दिया और जब कुलियों ने उस पर उसके सामान के चट्टे लगाये तो सबसे ऊपर केलों की एक गेल भी थी।

'ये हमारे हैं क्या?' मैं बेसब्री से पूछा।

उसने सिर हिलाया, 'अभी ये कच्चे हैं। इनके तैयार होने में हमें एकाध दिन का इंतजार करना पड़ेगा।'

घर आते समय रास्ते में उसने मां के बारे में सवाल पूछने शुरू कर दिये। मैं इतने उत्साह में था कि सारी बातें सिलसिलेवार बता ही नहीं पाया लेकिन उसे सारे सूत्र मिल गये थे। तब उसने बताया कि वह बीमार हो गया था और उसे केप टाउन में उतार कर अस्पताल में ही छोड़ दिया गया था और कि वापसी की यात्रा में उसने बीस पाउंड कमा लिये थे। ये पैसे वह मां को दे कर जाना चाहता था। उसने ये पैसे सैनिकों के लिए जूए और लाटरी के इंतजाम करके कमाये थे।

उसने मुझे अपनी योजनाओं के बारे में बताया। वह अब अपनी समुद्री यात्राएं छोड़ देने का इरादा रखता था और अभिनेता बनना चाहता था। उसने बताया कि ये पैसे हमारे लिए बीस हफ्तों के लिए काफी होंगे और तब तक उसे थियेटर में कोई न कोई काम मिल ही जायेगा।

जब हम टैक्सी में केलों की गेल के साथ घर पहुंचे तो पड़ोसियों और मकान मालकिन पर इसका बहुत अच्छा असर पड़ा। मकान मालकिन ने सिडनी को मां के बारे में बताया लेकिन सारे डरावने ब्यौरे नहीं बताये।

उसी दिन सिडनी शॉपिंग के लिए गया और मेरे लिए नये कपड़े खरीदे। और उसी रात पूरी सज धज के साथ हम दोनों साउथ म्यूजिकल हॉल के स्टाल

में जा पहुंचे। नाटक के दौरान सिडनी लगातार कहता रहा, 'जरा सोचो तो, मां के लिए इस सब का क्या मतलब होता।'

उसी हफ्ते हम मां को देखने के लिए केन हिल गये। जिस वक्त हम विजिटिंग रूम में बैठे हुए थे, वहां बैठ कर इंतजार करना बहुत कठिन काम लग रहा था। मुझे याद है कि चाभी घूमने की आवाज आयी थी और मां चल कर आ रही थी। वह पीली नजर आ रही थी। उसके होंठ नीले पड़ गये थे। हालांकि उसने हमें पहचान लिया था, उसमें उत्साह नहीं था और उसकी पुरानी जीवन शक्ति जा चुकी थी। उसके साथ एक नर्स आयी थी। बातूनी और भली महिला। वह खड़ी हो कर बात करना चाह रही थी। कहने लगी, 'आप लोग बहुत ही गलत वक्त पर आये हैं। आज आपकी मां की हालत बहुत अच्छी नहीं है। नहीं क्या?' उसने मां की तरफ देखा।

मां विनम्रता से मुस्कुरायी मानो उसके जाने की राह देख रही हो।

नर्स ने आगे कहा, 'अगली बार जब मां की हालत अच्छी हो तुम लोग जरूर आना।' आखिरकार वह चली गयी और हमें अकेला छोड़ दिया गया। हालांकि सिडनी ने मां का मूड बेहतर करने की कोशिश की और उसे अपनी किस्मत के चमकने और पैसा कमाने और इतने अरसे तक बाहर रहने के बारे में किस्से बताता रहा, वह बैठी सिर्फ सुनती रही और सिर हिलाती रही। वह अपने ही ख्यालों में गुम लग रही थी। मैंने मां को बताया कि वह जल्दी ही चंगी हो जायेगी। 'हां बेशक,' मां ने मायूसी से कहा, 'काश उस दोपहर तुमने मुझे एक कप चाय दे दी होती तो मैं एकदम ठीक हो जाती।'

बाद में डॉक्टर ने सिडनी को बताया कि कम खुराक मिलने की वजह से मां के दिमाग पर बहुत बुरा असर पड़ा है और उसे ठीक-ठाक इलाज की जरूरत है और कि हालांकि उसे बीच-बीच में बातें याद आती हैं, पूरी तरह से ठीक होने में उसे कई महीने लगेंगे।

लेकिन मैं कई दिन तक मां के इस जुमले से मुक्त नहीं हो सका कि 'काश उस दोपहर तुमने मुझे एक कप चाय दे दी होती तो मैं एकदम ठीक हो जाती।'

अध्याय 5

जोसफ कॉनराड ने इस बारे में अपने एक दोस्त को लिखा था कि जिंदगी ने उन्हें एक कोने में दुबके उस अंधे चूहे में बदल डाला था जिसे बस, दबोचा

जाने वाला हो। ऐसी उपमा से हम लोगों की दयनीय जिंदगी को बयान किया जा सकता था। इसके बावजूद हममें से कुछ लोगों की किस्मत अच्छी रही और ऐसे भाग्यशाली लोगों में से मैं भी था।

मैंने बहुत धंधे किये। मैंने अखबार बेचे, प्रिंटर का काम किया, खिलौने बनाए, ग्लास ब्लोअर का काम किया, डॉक्टर के यहाँ काम किया लेकिन इन तरह-तरह के धंधों को करते हुए मैंने सिडनी की तरह इस लक्ष्य से कभी भी निगाह नहीं हटायी कि मुझे अंततः अभिनेता बनना है, इसलिए अलग-अलग कामों के बीच अपने जूते चमकाता, अपने कपड़ों पर ब्रश फेरता, साफ कॉलर लगाता और स्ट्रैंड के पास बेडफोर्ड स्ट्रीट में ब्लैक मोर थिएटर एजेन्सी में बीच-बीच में चक्कर काटता। मैं तब तक वहाँ चक्कर लगाता रहा जब तक मेरे कपड़ों की हालत ने मुझे वहाँ और जाने से बिलकुल ही रोक नहीं दिया।

जब मैं वहाँ पहली बार गया तो वहाँ पर शानदार कपड़े पहने हुए अभिनेता-अभिनेत्री घेरा बनाए खड़े थे और लम्बी-लम्बी हांक रहे थे।

मैं डर से काँपते हुए दरवाजे के पास, दूर के एक कोने में खड़ा हो गया। मैं हद दर्जे का शर्मीला लड़का था और अपने चिथड़े हो गये सूट और पंजों से फटे जूतों को छुपाने की भरसक कोशिश कर रहा था। अचानक ही भीतर से एक युवा क्लर्क लपकता हुआ बाहर आता, हाय तौबा मचाता और वहाँ जुटे अभिनेताओं को सम्बोधित करते हुए जोर से चिल्लाता, 'तुम, तुम, और तुम, तुम्हारे लिए कोई काम नहीं है।' और ऑफिस गिरजाघर की तरह खाली हो जाता। एक मौके पर मैं अकेला ही वहां खड़ा रह गया था।

जब क्लर्क ने मुझे देखा तो अचानक रुक गया, 'क्या चाहिए तुम्हें?'

मुझे लगा, मैं ओलिवर ट्विस्ट की तरह कुछ और मांग रहा होऊं, 'क्या आपके पास बच्चों के लिए कोई भूमिका है?'

'क्या तुमने अपना नाम रजिस्टर करवा लिया है?' मैंने सिर हिलाया।

मेरी हैरानी का ठिकाना न रहा जब वह मुझे बगल वाले ऑफिस के भीतर ले गया, मेरा नाम, पता और दूसरे ब्यौरे दर्ज किये और मुझे बताया कि जब भी मेरे लायक कोई काम होगा मुझे खबर कर देगा।

मैं बहुत खुश, इस अहसास के साथ वापिस लौटा कि मैंने अपना कर्त्तव्य निभा दिया है। हालांकि मैं अभी भी मान रहा था कि इसका कोई नतीजा नहीं निकला।

और अब, सिडनी के लौटने के एक महीने के बाद मुझे एक पोस्ट कार्ड मिला। इस पर लिखा था, 'क्या आप ब्लैकमोर एजेन्सी, बेडफोर्ड स्ट्रीट, स्ट्रैंड में आयेंगे?'

मैं अपने नये सूट में मिस्टर ब्लैकमोर के ही सामने ले जाया गया। वे मुस्कुरा रहे थे और बहुत प्यार से मिले। मैं यह मानकर चल रहा था कि वे सर्वशक्तिमान होंगे और बारीकी से जांच पड़ताल करेंगे लेकिन वे बहुत ही विनम्र थे और उन्होंने मुझे एक पर्ची दी कि मैं चार्ल्स फ्राहमॅन के कार्यालय में मिस्टर सी ई हैमिल्टन को जाकर दे दूं।

मिस्टर हैमिल्टन ने पर्ची पढ़ी और यह जानकर बहुत खुश और हैरान हुए कि मैं कितना छोटा-सा हूं। दरअसल मैंने अपनी उम्र के बारे में झूठ बोला था कि मैं चौदह बरस का हूं जब कि मेरी उम्र साढ़े बारह बरस की थी। उन्होंने समझाया कि मुझे शारलॉक होम्स में बिली, पेजबॉय की भूमिका करनी है और शरद ऋतु से शुरू होने वाले दौरे में चालीस सप्ताह तक काम करना है।

'इस बीच,' मिस्टर हैमिल्टन ने आगे कहा, 'एक नये नाटक, जिम, द रोमांस ऑफ अ कॉक्नी' में एक अच्छे लड़के की बहुत ही शानदार भूमिका है। इसे मिस्टर सेंट्सबरी ने लिखा है। ये वही शख्स हैं, जो आगामी दौरे में शारलॉक होम्स में प्रमुख भूमिका निभाने जा रहे हैं। जिम नाटक होम्स' के दौरे से पहले आजमाइश के तौर पर किंग्स्टन में खेला जायेगा। मेरा वेतन दो पाउंड दस शिलिंग प्रति सप्ताह रहेगा और मुझे शारलॉक होम्स के लिए भी इतना ही वेतन मिलेगा।

हालांकि यह राशि मेरे लिए छप्पर फाड़ लॉटरी खुलने जैसी थी फिर भी मैंने यह बात अपने चेहरे पर नहीं झलकने दी। मैंने निम्रता से कहा, 'शर्तों के बारे में मैं अपने भाई से सलाह लेना चाहूंगा।'

मिस्टर हैमिल्टर हंसे और लगा कि वे बहुत खुश हुए हैं। इसके बाद उन्होंने सारे ऑफिस को इकट्ठा कर लिया और मेंरी तरफ इशारा करते हुए बोले, 'ये हमारा बिली है। क्या ख्याल है इसके बारे में?'

हर कोई बहुत खुश हुआ और मेरी तरफ देखकर मुस्कुराया। क्या हो गया था? ऐसा लगा मानो पूरी दुनिया ही अचानक बदल गयी हो, दुनिया ने मुझे प्यार से अपने सीने से लगा लिया हो और मुझे अपना लिया हो। तब मिस्टर हैमिल्टन ने मुझे सेंट्सबरी के लिए एक पर्ची दी। उनके बारे में बताया कि वे लीसेस्टर स्क्वायर में ग्रीन रूम क्लब में मिलेंगे। और मैं वहाँ से वापिस लौटा, बादलों पर सवार।

ग्रीन रूम क्लब में भी वही बात हुई। मिस्टर सेंट्सबरी ने अपने स्टाफ सदस्यों को मुझे देखने के लिए बुलवाया। वहाँ पर उसी समय मुझे यह कहते हुए सामी की भूमिका थमा दी गई कि उनके नाटक में यह एक महत्त्वपूर्ण चरित्र है। मैं डर के मारे थोड़ा नर्वस था कि कहीं वे उसी समय मुझसे अपना पाठ पढ़ने के लिए न कह दें क्योंकि मैं बिल्कुल भी पढ़ना नहीं जानता था और मैं परेशानी में पड़ जाता। सौभाग्य से उन्होंने मुझे मेरे संवाद घर ले जाने के लिए दे दिए कि मैं फुरसत से उन्हें पढ़ूं क्योंकि वे अगले हफ्ते से पहले रिहर्सल शुरू करने वाले नहीं थे।

मैं खुशी के मारे पागल होता हुआ बस में घर पहुंचा और पूरी शिद्दत से यह महसूस करने लगा कि मेरे साथ क्या हो गया है। मैंने अचानक ही गरीबी की अपनी जिंदगी पीछे छोड़ दी थी और अपना बहुत पुराना सपना पूरा करने जा रहा था। ये सपना जिसके बारे में अक्सर मां ने बातें की थीं और उसे मैं पूरा करने जा रहा था। अब मैं अभिनेता होने जा रहा था। ये सब इतना अचानक और अप्रत्याशित रूप से होने जा रहा था। मैं अपनी भूमिका के पन्नों को सहलाता रहा। इस पर नया खाकी लिफाफा था। यह मेरी अब तक की जिंदगी का सबसे महत्त्वपूर्ण दस्तावेज था। बस की यात्रा के दौरान मैंने महसूस किया कि मैंने एक बहुत बड़ा किला फतह कर लिया है। अब मैं झोपड़ पट्टी में रहने वाला नामालूम सा छोकरा नहीं था। अब मैं थिएटर का एक खास आदमी होने जा रहा था। मेरा मन किया कि मैं रो पड़ूं।

जब मैंने सिडनी को बताया कि क्या हो गया है तो उसकी आंखें भर आयीं। वह बिस्तर पर पालथी मारकर बैठ गया और खिड़की से बाहर देखने लगा। वह हिल रहा था। और तब अपना सिर हिलाते हुए उसने गहरी उदासी से कहा, 'ये हमारी जिंदगी का निर्णायक मोड़ है। काश, आज हमारी माँ यह खुशी बांटने के लिए हमारे साथ होती।'

मैंने उत्साहपूर्वक कहा, 'जरा सोचो तो, चालीस सप्ताह तक दो पाउंड और दस शिलिंग। मैंने तो मिस्टर हैमिल्टन से कह दिया है कि तुम्हीं मेरे कारोबारी मामले सम्भालते हो।' इसलिए मैं बेताबी से बोला, 'हो सकता है, हमें कुछ ज्यादा भी मिल जाएं। खैर, हम हर वर्ष साठ पाउंड बचा सकते हैं।'

हमने अपने उत्साह के चलते यह गणना भी कर ली और तर्क भी गढ़ लिया कि इतनी बड़ी भूमिका के लिए दो पाउंड और दस शिलिंग की राशि बहुत कम है। सिडनी ने यहाँ तक सोच डाला कि वह जाकर पैसे बढ़वाने की

बात करेगा। मैंने कहा कि कोशिश करने में कोई हर्ज नहीं है। लेकिन हैमिल्टन अड़ गये।

हम अधिकतम दो पाउंड दस शिलिंग ही दे सकते हैं।' वे बोले। हम इसे पाकर ही खुश थे।

सिडनी ने मुझे मेरी भूमिका पढ़कर सुनाई और मुझे अपनी पंक्तियां याद करने में मेरी मदद की। यह काफी बड़ी भूमिका थी और लगभग पैंतीस पन्नों में लिखी हुई थी। इसे मैंने तीन दिन में ही मुंह जबानी याद कर लिया था।

जिम' की रिहर्सलें ड्रूरी लेन थिएटर की ऊपर वाली मंजिल में हुई। सिडनी ने मुझे इतने उत्साह के साथ ट्रेनिंग दी थी कि मुझे एक-एक शब्द याद हो गया था। बस, एक शब्द मुझे परेशान कर रहा था। लाइन कुछ इस तरह से थी, 'आप अपने आप को समझते क्या हैं मिस्टर पियरपाँट मोरगन?' और मैं कह बैठता, 'पुटरपिंट मोरगन।' मिस्टर सेंट्सबरी ने मुझे ये शब्द ज्यों के त्यों रखने दिये। ये शुरुआती रिहर्सलें आँखें खोलने वाली थीं। इन्होंने मेरे सामने तकनीकों की एक नयी दुनिया खोल कर रख दी। मुझे इस बात की कत्तई जानकारी नहीं थी कि स्टेज क्राफ्ट, टायमिंग, विराम, मुड़ने के लिए संकेत, बैठने के लिए संकेत जैसी कई बातें भी होती हैं। लेकिन ये सारी चीजें मुझे स्वाभाविक रूप से आ गयीं। बस, मेरी एक ही खामी को मिस्टर सेंट्सबरी ने ठीक किया - बोलते समय मैं सिर बहुत हिलाता था और सांस बहुत रोकता था।

कुछ दृश्यों की रिहर्सल कर लेने के बाद वे हैरान रह गये और मुझसे पूछने लगे कि क्या मैंने पहले कभी अभिनय किया है। कितना संतोषजनक था सेंट्सबरी साहब को और नाटक दूसरे अभिनेताओं को खुश करना! अलबत्ता, मैंने उनका उत्साह इस तरह से स्वीकार किया मानो यह मेरा स्वाभाविक जन्मसिद्ध अधिकार हो।

जिम को किंग्स्टन थिएटर में पहले हफ्ते में और फुलहाम थिएटर में दूसरे हफ्ते में आजमाइश के तौर पर खेला जाना था। यह हैनरी ऑर्थर जोन्स के सिल्वर किंग पर आधारित एक मैलोड्रामा था। इसकी कहानी कुछ इस तरह से थी कि एक अभिजात्य व्यक्ति अनिद्रा रोग से पीड़ित है और एक दिन अपने आपको फल बेचने वाली एक युवा लड़की और अखबार बेचने वाले एक लड़के के साथ एक दुछत्ती में रहते हुए पाता है। लड़के सामी की भूमिका मैंने निभानी थी। नैतिक रूप से सब ठीक-ठाक था। लड़की दुछत्ती में एक अलमारी में सोती थी और ड्यूक, उसको हम यही कर पुकारते थे, खाट पर आराम से सोता था और मैं फर्श पर सोता था।

पहले अंक का दृश्य 7 ए डेवरयू कोर्ट, द टेंपल का था। यह एक अमीर वकील जेम्स सीटन गेटलॉक का चेंबर था। बरबाद ड्यूक अपने विरोधी वकील के पास जाता है और अपना भला करने वाली फूल बेचने वाली लड़की, जो बीमार है, की मदद करने के लिए हाथ फैलाता है। इस लड़की ने अनिद्रा के उसके रोग में उसकी मदद की थी।

नोक झोंक में विलेन ड्यूक से कहता है, 'दफा हो जाओ। जाओ और भूखे मरो। तुम और तुम्हारी ये रखैल।'

ड्यूक हालांकि कमजोर और मरियल सा है, मेज से कागज काटने वाला चाकू उठा लेता है मानो वह विलेन पर हमला कर रहा हो, लेकिन इस तरह से चाकू मेज पर गिरा देता है जैसे उसे मिर्गी का दौरा पड़ा हो और वह विलेन के पैरों के पास बेहोश हो कर गिर जाता है। इस मोड़ पर आकर विलेन की भूतपूर्व पत्नी, जिससे कभी यह पस्त ड्यूक प्रेम किया करता था, कमरे के भीतर आती है। वह भी यह कहते हुए पस्त ड्यूक के लिए हाथ जोड़ती है, 'उसकी मेरे साथ नहीं बनी। वह अदालतों में भी कुछ नहीं कर पाया। कम से कम तुम तो उसकी मदद कर सकते हो।'

लेकिन विलेन मना कर देता है। दृश्य चरम उत्तेजना तक जा पहुंचता है। विलेन अपनी भूतपूर्व पत्नी पर निष्ठावान न रहने का आरोप लगाता है और उसे भी छोड़ देता है। सनक में आकर वह कागज काटने वाला चाकू उठा लेती है, जो पस्त ड्यूक के हाथ से गिरा था और विलेन को मार देती है। विलेन अपनी आराम कुर्सी में गिर कर मर जाता है जबकि ड्यूक अभी भी उसके पैरों के पास बेहोश पड़ा हुआ है। महिला दृश्य से गायब हो जाती है और ड्यूक को जब होश आता है तो वह अपने विरोधी को मरा हुआ पाता है। वह कहता है, 'हे भगवान, ये मैंने क्या कर डाला।'

और इस तरह से नाटक चलता रहता है। वह मृतक की जेबों की तलाशी लेता है और उसे एक पर्स मिलता है जिसमें कई पाउंड, हीरे की अंगूठी और आभूषण मिलते हैं। वह ये सारी चीजें अपनी जेब के हवाले करता है और जब वह खिड़की रास्ते बाहर निकल रहा है तो मुड़ कर कहता है, 'गुड बाय गैटलॉक, आखिर तुमने मेरी मदद कर ही दी।' और परदा गिरता है।

दूसरा दृश्य उस दुछत्ती का था जहाँ ड्यूक रहता था। जब दृश्य खुलता है तो एक अकेला जासूस अलमारी के अंदर तांक-झाँक कर रहा है। मैं सीटी बजाते हुए आता हूँ और जासूस को देखकर रुक जाता हूँ।

अखबारवाला लड़का – अरे आप, क्या आपको नहीं पता कि ये एक महिला का बेडरूम है?

जासूस – क्या? ये अलमारी? जरा इधर तो आना

लड़का – बदतमीज, ढीठ कहीं के!

जासूस – तुमने ये दिखाया। इधर आओ और दरवाजा बंद कर दो।

लड़का – (उसकी तरफ जाते हुए) जरा आराम से। समझे नहीं क्या? उनके अपने ड्राइंग रूम में भोंदुओं के आमंत्रण?

जासूस – मैं एक जासूस हूँ।

लड़का – अरे पुलिस वाला ...तब तो हो गई मेरी छुट्टी।

जासूस – मैं तुम्हें कोई नुकसान नहीं पहुंचाऊंगा। मैं तो थोड़ी–जानकारी चाहता हूँ जिससे किसी गरीब की मदद हो जाए।

लड़का – किसी की मदद? यदि यहाँ किसी का भला होता है तो वह कम से कम किसी पुलिस वाले के हाथों तो नहीं ही होगा।

जासूस – ज्यादा मूरख मत बनो। क्या मैंने तुझसे ये कहा है कि मैं कभी फौज में था।

लड़का – बिना किसी बात के शुक्रिया। मैं आपके जूते देख सकता हूँ।

जासूस – यहाँ कौन रहता है?

लड़का – ड्यूक

जासूस – वो तो ठीक है, लेकिन उसका असली नाम क्या है?

लड़का – मुझे नहीं पता। लेकिन वह इसी नाम से जाना जाता है। वैसे आप मुझे इस बात के लिए मार भी सकते हैं कि मुझे इसका मतलब नहीं मालूम।

जासूस – और वो देखने में कैसा लगता है?

लड़का – कागज की तरह पतला, सफेद बाल, दाढ़ी सफाचट, टॉपहैट और एक आँख वाला चश्मा पहनता है। और हां!! वह आपको उसी चश्मे से देखता है।

जासूस – और जिम, – ये कौन है?

लड़का – वह आदमी? आपका मतलब लड़की?

जासूस – तो यह वही लड़की है, जो –

लड़का – (उसे टोकते हुए) जो अलमारी में सोती है। यहाँ ये कमरा हमारा है, मेरा और ड्यूक का वगैरह। वगैरह ...

और भी बहुत कुछ था मेरी भूमिका में और मेरा यकीन मानिये, दर्शकों को इसमें बहुत मजा आया। मेरा ख्याल है इसका कारण यह रहा होगा कि मैं अपनी उम्र से बहुत छोटा दिखता था। मैं जो भी लाइन बोलता, उस पर ठहाके लगते। सिर्फ मंच पर किए जाने वाले काम मुझे परेशान करते। स्टेज पर सचमुच की चाय बनाना। मैं हमेशा भ्रम में पड़ जाता कि पहले पॉट में गरम पानी डालना है या चाय की पत्ती। इसकी तुलना में स्टेज पर कुछ भी काम करने के बजाय लाइनें बोलना हमेशा आसान होता।

जिम नाटक सफल नहीं रहा था। समीक्षकों ने उस नाटक पर बहुत बेदर्दी से कलम चलायी। इसके बावजूद मेरा जिक्र अनुकूल ढंग से किया गया। एक समीक्षा जो मुझे हमारी ही कम्पनी के मिस्टर चार्ल्स रॉक ने दिखायी थी, बहुत ही अच्छी थी। वे एक पुराने एडाल्फी अभिनेता थे और उनका बहुत नाम था। और मैंने अपने अधिकतर दृश्य उनके साथ ही किये थे। '...नौजवान,' उन्होंने गंभीरता से कहा था,' जब तुम ये सब पढ़ो तो ये चीजें तुम्हारे दिमाग पर सवार नहीं हो जानी चाहिये।' और विनम्रता और सौम्यता पर मुझे भाषण पिलाने के बाद लंदन ट्रापिकल टाइम्स में से मुझे ये समीक्षा पढ़ कर सुनायी। मुझे समीक्षा का एक-एक शब्द याद है।

नाटक के बारे में हिकारत से लिखने के बाद अखबार ने लिखा–लेकिन एक आशा जगाने वाली बात भी है। सामी की भूमिका, अखबार बेचने वाला छोकरा, लंदन की गलियों का एक स्मार्ट अरब, जिसने काफी हद तक का नाटक में हास्य की कमी पूरी की है। बेशक ये भूमिका घिसी-पिटी और पुराने ढब की है फिर भी, मास्टर चार्ली चौप्लिन ने सामी के रोल को काफी हद तक रोचक बना दिया है। एक शानदार और मेहनती बाल कलाकार, मैंने हालांकि इस बच्चे के बारे में पहले कभी पहले नहीं सुना है फिर भी हमें निकट भविष्य में इस बच्चे के बारे में बहुत कुछ बेहतर सुनने को मिलेगा, मुझे ऐसी उम्मीद है।' सिडनी ने इसकी एक दर्जन प्रतियां खरीद लीं।

जिम' के दो सप्ताह तक चलने के बाद हमने शरलॉक होम्स का पूर्वाभ्यास शुरू किया। इस वक्त के दौरान सिडनी और मैं अभी भी पाउनॉल टैरेस पर ही रह रहे थे। इसका कारण यह था कि आर्थिक रूप में अभी भी हम अपने पैरा तले की जमीन के बारे में बहुत ज्यादा आश्वस्त नहीं थे।

पूर्वाभ्यास के दौरान सिडनी और मैं मां से मिलने के लिए केन हिल गये। पहले तो नर्सों ने हमें यही बताया कि हम मां से नहीं मिल पायेंगे क्योंकि मां

की तबीयत ठीक नहीं है। फिर वे सिडनी को एक तरफ ले गयीं और उससे फुसफुसा कर बात करने लगीं, लेकिन मैंने सिडनी की बात सुन ली थी, 'नहीं, मुझे नहीं लगता वह देख पायेगा।' तब वह मेरी तरफ मुड़ कर उदासी से बोला था, 'तुम मां को पागलखाने में नहीं देखना चाहोगे?'

'नहीं नहीं, मैं ये बरदाश्त नहीं कर पाऊंगा।' मैंने तड़प कर कहा।

लेकिन सिडनी मां से मिला और मां ने उसे पहचान लिया और वह सचेत हो गयी। कुछ ही पलों के बाद नर्स ने आ कर मुझे बताया कि अब मां बेहतर है और क्या मैं उसे देखना चाहूंगा। तब हम दोनों पागलखाने वाले कमरे में गये और वहाँ जा कर बैठ गये। इससे पहले कि हम जाते, वह मुझे एक तरफ ले कर गयी और मेरे कान में फुसफुसायी, 'हिम्मत मत हारना, नहीं तो वे लोग तुम्हें यहीं रख सकते हैं।' मां फिर से अपनी सेहत वापिस पाने से पहले पूरे अट्ठारह महीने केन हिल में रही। मैं जब दौरे पर था तो सिडनी नियमित रूप से जा कर उससे मिलता रहा।

मिस्टर एच ए सेंट्सबरी जो टूर पर होम्स का पार्ट कर रहे थे, स्ट्रैंड मैग्जीन में छपने वाले चित्रों की हू-ब-हू प्रतिकृति थे। उनका लम्बोतरा संवेदनशील चेहरा था, और माथे पर प्रेरणा देते से भाव थे। जितने भी कलाकार होम्स की भूमिका अदा किया करते थे, उनमें से सेंट्सबरी को बेहतरीन समझा जाता था। उन्हें विलियम गिलेट, मूल होम्स और नाटक के लेखक से भी अच्छा माना जाता था।

मेरे पहले टूर के दौरान मैनेजमेंट ने तय किया कि मैं मिस्टर और मिसेज ग्रीन के साथ रहूं। मिस्टर ग्रीन हमारी कम्पनी के बढ़ई थे और मिसेज ग्रीन वार्डरोब संभालती थीं। ये व्यवस्था बहुत शानदान नहीं कही जा सकती थी। ऊपर से मिस्टर और मिसेज ग्रीन कभी-कभार पीते-वीते थे। इसके अलावा, मैं अक्सर उसी वक्त खाना नहीं खाता था जब वे खाया करते। जो वे खाया करते वह मैं नहीं खाता। मुझे यकीन है, मेरा ग्रीन दम्पत्ति के साथ रहना मेरे लिये उतना तकलीफदेह नहीं था, जितना उनके लिए था। इसलिए तीन हफ्ते तक एक साथ रहने के बाद हमने आपसी रजामंदी से अलग होने का फैसला कर लिया। और चूंकि मैं इतना छोटा था कि किसी और कलाकार के साथ नहीं रह सकता था, मैं अकेला ही रहने लगा। मैं अजनबी शहरों में अकेले रहता, पिछवाड़े के कमरों में अकेले रहता, और शाम के शो के वक्त से पहले शायद ही किसी साथी कलाकार से मिलता-जुलता। जब मैं अपने आप से बात करता तो मुझे सिर्फ

अपनी ही आवाज सुनायी देती। अक्सर मैं सैलूनों में चला जाता जहाँ हमारी कम्पनी के साथी इकट्ठे होते और उन्हें बिलियर्ड्स खेलते देखता। लेकिन मैं हमेशा पाता कि मेरी मौजूदगी से उनकी बातचीत में बाधा ही आ खड़ी होती है और वे इस बात को मुझे जतलाने में कोई शर्म भी महसूस न करते। इसलिए उनकी किसी ऐसी-वैसी बात पर मुस्कुरा भी दूँ तो उनकी भौंहे तन जाती थीं।

मैं अकेला होता चला गया। रविवारों की रात को उत्तरी शहरों में पहुंचना, अंधियारी मुख्य गली में से गुजरते हुए गिरजा घर की घंटियों की उदास टुनटुनाहट सुनना। ये सारी बातें मेरे अकेलेपन में कुछ भी न जोड़ पाती। सप्ताह के अंत की छुट्टियों के दिनों में मैं स्थानीय बाजार खंगालता, और अपनी खरीददारी करता, राशन-पानी खरीदता, मांस खरीदता जिसे मकान मालकिन पका कर दे देती। कई बार मुझे खाने और रहने की सुविधा मिल जाती और मैं तब रसोई में बैठ कर परिवार के साथ ही खाता। मुझे वह व्यवस्था अच्छी लगती क्योंकि उत्तरी इंग्लैंड के रसोईघर साफ-सुथरे और भरे पूरे होते, वहां पॉलिश किए हुए फायरग्रेट होते और नीली भट्ठियाँ होतीं। मकान मालकिन का ब्रेड सेंकना, और ठंडे अंधियारे दिन में से निकल कर लंकाशायर रसोई की जलती आग की लाल लौ के दायरे में आना हमेशा अच्छा लगता। वहाँ बिना सिंकी डबलरोटियों के डिब्बे भट्ठी के आस-पास पार बिखरे होते, तब परिवार के साथ चाय के लिए बैठना, भट्ठी से अभी-अभी निकली गरमा-गरम डबलरोटी की सोंधी-सोंधी महक, उस पर लगाया गया ताजा मक्खन...मैं गंभीर महानता ओढ़े इनका आनंद उठाता।

मैं प्रदेशों में छह महीने तक रहा। इस बीच सिडनी को थियेटर में ही काम तलाशने में बहुत कम सफलता मिली थी इसलिए अब वह कलाकार बनने की अपनी महत्त्वाकांक्षा को त्याग कर स्ट्रैंड में कोल होल में एक बार में काम के लिए आवेदन करने पर मजबूर हो गया। एक सौ पचास आवेदकों में से यह नौकरी उसे मिली थी। लेकिन मानो एक तरह से यह उसका पहले की स्थिति से पतन था।

वह मुझे नियमित रूप से लिखा करता और मां के बारे में मुझे समाचार देता रहता। लेकिन मैं शायद ही उसके खतों के जवाब देता। इसका एक कारण था कि मुझसे वर्तनी की गलतियाँ बहुत होतीं। उसके एक खत ने तो मुझे इतनी गहराई से छुआ और इसकी वजह से मैं उसके और नजदीक आ गया। उसने मुझे उसके खतों का जवाब न देने के कारण फटकार लगायी और याद दिलाया था

कि हम कैसे-कैसे दिन एक साथ देख कर यहाँ तक पहुँचे हैं और इस बात से हमें कम से कम एक दूसरों के और करीब होना चाहिए।

सिडनी ने लिखा,'.. मां की बीमारी के बाद हम दोनों के पास एक दूसरे के अलावा और कौन बचे हैं। तुम नियमित रूप से लिखा करो और मुझे बताओ कि मेरा एक भाई भी है।'

उसका पत्र इतना अधिक भावपूर्ण था कि मैंने तुरंत ही उसका जवाब दे दिया। अब मैं सिडनी को दूसरे ही आलोक में देख रहा था। उसके पत्र ने भ्रातृत्व के प्यार का ऐसा अटूट बंधन बांधा जो मेरी पूरी जिंदगी मेरे साथ बना रहा।

मैं अकेले रहने का आदी हो चुका था। लेकिन मैं बातचीत करने से इतना विमुख होता चला गया कि जब कम्पनी का कोई साथी मुझसे मिलता तो मैं बहुत ज्यादा परेशानी में पड़ जाता। मैं अपने आपको फटाफट इस बात के लिए तैयार ही न कर पाता कि हाजिर जवाबी से, समझदारी से किसी बात का जवाब दे सकूं। लोग-बाग मुझे छोड़ कर चले जाते। मुझे पक्का यकीन है कि मेरी बुद्धि के प्रति घबड़ाकर चिंतातुर हो कर ही मुझसे विदा लेते। अब उदाहरण के लिए, मिस ग्रेटा हॉन को ही लें। वे हमारी प्रमुख अभिनेत्री थीं। खूबसूरत, आकर्षक और दयालुता की साक्षात प्रतिमा, लेकिन जब मैंने उन्हें सड़क पार कर अपनी तरफ आते देखता तो मैं तेजी से मुड़ कर या तो एक दुकान की खिड़की में देखने लगता या उससे मिलने से बचने के लिए किसी दूसरी ही गली में सरक जाता।

मैंने अपने-आप की परवाह करनी छोड़ दी और अपनी आदतों में लापरवाह होता चला गया। जब मैं कम्पनी के साथ यात्रा कर रहा होता तो रेलवे स्टेशन पहुंचने में मुझे हमेशा देर हो जाती। आखिरी पलों में पहुँचता और मेरी हालत अस्त-व्यस्त होती, मैंने कॉलर भी न लगाया होता, और मुझे हमेशा इस बात के लिए फटकार सुननी पड़ती।

मैंने अपने साथ के लिए एक खरगोश खरीद लिया और मैं जहाँ भी रहता, उसे छुपा कर अपने कमरे में ले जाता और मकान मालकिन को इस बात की हवा भी न लग पाती। ये एक छोटा-सा प्यारा-सा जीव था जो बेशक इधर-उधर मुंह नहीं मारता था। इसकी फर इतनी सफेद और साफ थी कि यह बात किसी की ध्यान में भी नहीं आती थी कि इसकी गंध कितनी तीखी हो सकती है। मैं इसे अपने बिस्तर के नीचे एक लकड़ी के पिंजरे में छुपा कर रखता। मकान मालकिन खुशी-खुशी मेरे कमरे में मेरा नाश्ता ले कर आती, तभी उसे इस महक का पता चलता, तब वह कमरे से परेशान और भ्रमित हो कर चली जाती, उसके

कमरे से बाहर जाते ही मैं अपने खरगोश को आजाद कर देता और वह सारे कमरे में फुदकता फिरता।

बहुत पहले ही मैंने अपने खरगोश को इस बात की ट्रेनिंग दे दी थी कि ज्यों ही वह दरवाजे पर खटखट सुने, पलट कर अपनी पेटी में चला जाये। अगर मकान मालकिन को मेरे इस रहस्य का पता चल भी जाये तो मैं अपने खरगोश को ट्रिक करके दिखाने को कह कर उसका दिल जीत लेता और वह फिर हमें पूरा हफ्ता रहने के लिए इजाजत दे देती।

लेकिन टोनीपेंडी, वेल्स में, मैंने अपनी ट्रिक दिखायी तो मकान मालकिन रहस्यमय ढंग से मुस्कुरायी लेकिन उसने कोई राय जाहिर नहीं की, लेकिन उस रात जब मैं थियेटर से लौटा तो मेरा प्रिय पालतू खरगोश जा चुका था। जब मैंने उसके बारे में पूछताछ की तो मकान मालकिन ने सिर्फ अपना सिर हिला दिया, 'कहीं भाग-वाग गया होगा या उसे जरूर किसी ने चुरा लिया होगा।' उसने बड़ी चतुराई से अपने-आप ही समस्या को सुलझा लिया था।

टोनीपेंडी से हम ऐब्बी वेल के खदानों वाले शहर में पहुँचे जहाँ हमें तीन रातों के लिए रुकना था। और मैं इस बात के लिए शुक्रगुजार था कि हमें सिर्फ तीन दिन ही रुकना था क्योंकि ऐब्बीवेल एक सीलन-भरी जगह थी जो उन दिनों गंदा-सा शहर हुआ करता था, भयानक, एक जैसे मकानों की एक के बाद एक कतार, हर घर में चार छोटे कमरे थे जिनमें तेल की कुप्पियाँ जलतीं। कंपनी के ज्यादातर लोग एक छोटे-से होटल में ठहरे। सौभाग्य से मुझे एक खदानकर्मी के घर में सामने की तरफ वाला कमरा मिल गया। कमरा बेशक छोटा था लेकिन ये साफ और आरामदायक था। रात को जब मैं नाटक से वपिस लौटता तो कमरे में आग के पास ही मेरा खाना रख दिया जाता जहाँ वह गरम रहता।

मकान मालकिन लम्बी, खूबसूरत-सी औरत थी जिसके आस-पास त्रासदी का एक आवरण लिपटा हुआ था। वह सुबह मेरे कमरे में नाश्ता ले कर आती और शायद ही कभी एक-आध शब्द बोलती। मैंने नोट किया कि उसकी रसोई का दरवाजा हमेशा ही बंद रहता। जब भी मुझे किसी चीज की जरूरत होती, मुझे दरवाजा खटखटाना पड़ता और दरवाजा एकाध इंच ही खोला जाता।

दूसरी रात जब मैं रात का खाना खा रहा था तो उसका पति आया। वह लगभग अपनी पत्नी की उम्र का रहा होगा। उस शाम वह थियेटर गया हुआ था और उसे हमारा नाटक अच्छा लगा था। बातचीत करते समय वह खड़ा ही रहा। उसने हाथ में एक जलती मोमबत्ती पकड़ी हुई थी और वह सोने के लिए जाने

की तैयारी में था। वह बात करते समय थोड़ा रुका मानो कुछ कहना चाह रहा हो. „...सुनो, मेरे पास कुछ ऐसा है, जो मुझे लगता है, तुम्हारे काम काज में कहीं फिट हो सकता है। कभी मानव मेंढक देखा है? लो इस मोमबत्ती को पकड़ो और मैं लैम्प पकड़ता हूँ।'

वह मुझे रसोई घर तक ले कर गया और लैम्प को ड्रेसर पर रख दिया। ड्रेसर पर ऊपर से नीचे तक अलमारी के दरवाजों के पल्लों की जगह पर परदा लगा हुआ था। '...ऐ गिल्बर्ट, जरा बाहर तो निकलो।' उसने परदे सरकाते हुए कहा।

एक आधा आदमी जिसके पैर नहीं थे, सामान्य आकार से बड़ा सिर, लाल बाल, चपटा-सा माथा, बीमार-सा सफेद चेहरा, धँसी हुई नाक, बड़ा-सा मुँह और मजबूत कंधे और बाहें, ड्रेसर के नीचे से निकल कर आया। उसने फलानेल का जांघिया पहना हुआ था। जांघिये के कपड़े को जाँघों तक काट दिया गया था। वहाँ उसके दस मोटे, ठूँठ जैसे पंजे नजर आ रहे थे। इस डरावने प्राणी की उम्र बीस से चालीस के बीच कुछ भी हो सकती थी।

'ऐ, ... हे गिल्बर्ट, जरा कूद के दिखाओ।' पिता ने कहा और दीन-हीन आदमी ने अपने आपको थोड़ा नीचे किया और लगभग मेरे सिर की ऊँचाई तक अपनी बाहें ऊपर उछाल दीं।

'...क्या ख्याल है? सर्कस के लिए यह फिट रहेगा? मानव मेंढक?'

मैं इतना भयभीत हो गया था कि जवाब ही न दे सका। अलबत्ता, मैंने उन्हें कई सर्कसों के नाम पते बताये जहाँ वे इस बारे में लिख सकते थे।

वे इस बात पर अड़े रहे कि ये लिजलिजा प्राणी और भी उछल कूद, कलाबाजियाँ और कूद फाँद दिखाये। उसे आराम कुर्सी के हत्थे पर हाथों के बल खड़ा किया गया, कुदाया गया। जब उसने अपने ये सब करतब बंद किये तो मैंने यह जतलाया कि ये वाकई उत्साह जनक है और इन ट्रिक्स पर उसे बधाई दी।

कमरे से बाहर निकलने से पहले मैंने उससे कहा ... 'गुड नाइट गिल्बर्ट,' तो कूँए में से आती सी, जबान दबा कर उस बेचारे ने जवाब दिया,' ...गुड नाइट।'

उस रात कई बार मैं उठा और अपने बंद दरवाजे को अच्छी तरह देखा-भाला। अगली सुबह मकान मालकिन खुश मिजाज नजर आयी और उसके चेहरे पर संवाद करने जैसे भाव थे। 'मेरा ख्याल है, तुमने कल रात गिल्बर्ट को

देखा है,' कहा उसने, 'हां, ये जरूर है कि जब हम थिएटर के लोगों को घर में रखते हैं तो वह ड्रेसर के नीचे ही सोता है।'

तब यह वाहियात ख्याल मेरे मन में आया कि मैं गिल्बर्ट के बिस्तर में ही सोता रहा हूँ।... 'हाँ,' मैंने जवाब दिया और उसके सर्कस में जाने की संभावनाओं पर नपे-तुले शब्दों में ही बात करता रहा।

मकान मालकिन ने सिर हिलाया,'...हम अक्सर इस बारे में सोचते रहे हैं।'

मेरा उत्साह - या इसे जो भी नाम दे दें - मकान मालकिन को खुश करता जा रहा था। वहाँ से चलने से पहले मैं रसोई में गिल्बर्ट को बाय-बाय कहने गया। सहज रहने की कोशिश करते हुए मैंने उसका बड़ा-सा फैला हुआ हाथ अपने हाथ में लिया और उसने हौले से मेरा हाथ दबाया।

चालीस हफ्तों तक अलग-अलग प्रदेशों में प्रदर्शन करने के बाद हम लंदन लौटे। अब हमें आस-पास के उपनगरों में आठ हफ्ते तक प्रदर्शन करने थे। शरलॉक होम्स, जो सदाबहार सफलता के झँडे गाड़ता था, पहले टूर के होने के बाद तीन हफ्ते बाद दूसरे टूर से शुरू होने वाला था।

अब सिडनी और मैंने तय किया कि पाउनाल टेरेस वाला अपना कमरा छोड़ दें और केनिंगटन रोड पर किसी ज्यादा इज्जतदार जगह में जा कर रहें। हम अब सांपों की तरह अपनी केंचुल को उतार फेंक देना चाहते थे। अपने अतीत को धो पोंछ देना चाहते थे।

मैंने होम्स के अगले दौरे के दौरान सिडनी को एक छोटी-सी भूमिका दिये जाने के बारे में मैनेजमेंट से बात की और उसे काम मिल भी गया। एक हफ्ते के पैंतीस शिलिंग। अब हम अपने दौरे पर साथ एक साथ थे।

सिडनी हर हफ्ते मां को खत लिखता था और हमारे दूसरे दौरे के आखिरी दिनों में हमें केन हिल पागल खाने से एक पत्र मिला कि अब हमारी मां की सेहत बिलकुल ठीक है। यह निश्चित ही एक बेहतर खबर थी। हमने फटाफट अस्पताल से मां को डिस्चार्ज कराने के इंतजाम किये और इस बात की तैयारियाँ कीं कि वह हमारे पास ही रीडिंग शहर में पहुँच जाये। इस मौके का जश्न मनाने के लिए हमने एक स्पेशल डीलक्स अपार्टमेंट लिया जिसमें दो बेडरूम थे, एक ड्राइंगरूम था जिसमें पियानो रखा हुआ था। हमने मां का बेडरूम फूलों से सजा दिया और एक शानदार डिनर का इंतजाम किया।

सिडनी और मैं स्टेशन पर मां का इंतजार करते रहे। हम तनाव में भी थे और खुश भी। लेकिन मैं इस बात को सोच-सोच कर परेशान हुआ जा रहा था

कि अब वह कैसे हमारी जिंदगी में फिर से फिट हो पायेगी, इस बात को जानते हुए कि उन दिनों की वह आत्मीय घड़ियां फिर से नहीं जी जा सकेंगी।

आखिरकार ट्रेन आ पहुँची। सवारियाँ जैसे-जैसे डिब्बों में से निकल कर आ रही थीं, हम उत्तेजना और अनिश्चितता से उनके चेहरे देख रहे थे और आखिर में वह नजर आयी। मुस्कुराती हुई और चुपचाप धीरे-धीरे हमारी तरफ बढ़ती हुई। जब हम उससे मिलने के लिए आगे बढ़े तो उसने ज्यादा भाव प्रदर्शित नहीं किये लेकिन वात्सल्य के साथ हमें प्यार किया। तय था वह अपने आपको एडजस्ट करने के भीषण दौर से गुजर रही थी। टैक्सी से अपने कमरों तक की उस छोटी-सी यात्रा में हमने हजारों बातें की, मतलब की और बेमतलब की।

मां को अपार्टमेंट और उसके बेडरूम के फूल दिखा देने के तात्कालिक उत्साह के बाद हम अपने आपको ड्राइंगरूम में एक दूसरे के सामने खाली-खाली बैठा पा रहे थे। हमारी सांस फूल रही थी। धूप भरा दिन था और हमारा अपार्टमेंट एक शांत गली में था। लेकिन अब इसकी शांति बेचैन कर रही थी। हालांकि मैं खुश होना चाहता था लेकिन पता नहीं क्यों, मैं अपने-आपको एक तरह के दिल डूबने वाले के भाव से लड़ता हुआ पा रहा था। बेचारी मां, उसने खुश और संतुष्ट रहने के लिए जिंदगी से कितना कम चाहा था, मुझे अपने तकलीफ भरे अतीत की याद दिला रही थी ...वह दुनिया की आखिरी औरत थी जिसने मुझे इस तरह से प्रभावित किया होगा। लेकिन मैंने अपनी तरफ से इन भावनाओं को छुपाने की भरपूर कोशिश की। उसकी उम्र थोड़ी बढ़ गयी थी और वजन भी बढ़ गया था। मैं हमेशा इस बात पर गर्व किया करता था कि हमारी मां कितनी शानदार दिखती है और ढंग से पहनी ओढ़ती है, और मैं चाहता था कि मैं अपनी कम्पनी को उसके बेहतरीन रूप में दिखाऊं। लेकिन अब वह अनाकर्षक दिख रही थी। मां ने जरूर मेरी शंका को ताड़ लिया होगा तभी तो उसने मेरी तरफ प्रश्न भरी निगाहों से देखा।

झिझकते हुए मैंने मां के बालों की लट को ठीक किया, '...मेरी कम्पनी से मिलने से पहले,' मैं मुस्कुराया, 'मैं चाहता हूँ कि तुम अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में होवो।'

हमें एक दूसरे से एडजस्ट होने में ज्यादा वक्त नहीं लगा और मेरी हताशा उड़न छू हो गयी। अब हम उस आत्मीयता के दायरे से बाहर आ चुके थे जो वह तब जानती थी जब हम बच्चे थे और तब वह उस बात को हम बच्चों से बेहतर जानती थी और यह बात हमें और भी प्यारी बना रही थी। हमारे टूर के

दौरान वह खरीददारी करती, सौदा सुलुफ लाती, घर पर फल वगैरह ले आती, खाने-पीने के लिए कुछ न कुछ अच्छी चीजें ले आती और थोड़े से फल तो जरूर ही खरीद कर लाती। हम अतीत में कितने भी गरीब क्यों न रहे हों, शनिवारों की रात के वक्त खरीददारी करते समय हम हमेशा पेनी भर के फूल खरीदने का जुगाड़ तो कर ही लिया करते थे। अक्सर वह शांत और अपने आप में गुमसुम रहती और उसका ये अलगाव मुझे उदास कर जाता। वह हमारे साथ मां की तरह पेश आने के बजाये मेहमानों की तरह पेश आती।

एक महीने के बाद मां ने लंदन वपिस जाने की इच्छा प्रकट की। वह अब घर बसा लेना चाहती थी ताकि जब हम दौरे से वपिस आयें तो उसके पास हमारे लिए एक घर हो। इसके अलावा, जैसा कि उसने कहा, इस तरह सदा सैरों पर घूमते हुए एक अतिरिक्त किराया देने की तुलना में लंदन में घर ले कर रहना कहीं ज्यादा सस्ता पड़ेगा।

मां ने चेस्टर स्ट्रीट पर नाई की दुकान के ऊपर एक फ्लैट किराये पर ले लिया। यहाँ हम पहले भी रह चुके थे। मां किस्तों पर दस पाउंड का फर्नीचर ले आयी। कमरे हालांकि वर्सेलिस के कमरों जैसे बड़े और शानदार नहीं थे लेकिन मां ने तो कमाल कर दिया और कमरों का काया-कल्प कर दिया। उसने सोने के कमरों को संतरी रंग के क्रेटस् और क्रेटोन से रंग डाला। अब कमरे सजावटी अलमारियों की तरह दिखने लगे थे। हम दोनों, सिडनी और मैं मिल कर हर हफ्ते चार पाउंड और पांच शिलिंग कमा रहे थे और उसमें से एक पाउंड और पांच शिलिंग मां को भेज देते।

अपने दूसरे दौरे के बाद मैं और सिडनी घर वापिस लौटे और एक हफ्ता मां के साथ रहे। हालांकि हम मां के पास आ कर खुश थे, फिर भी हम मन ही मन फिर से दौरे पर जाने की चाह रखने लगे थे क्योंकि चेस्टर स्ट्रीट के घर में वे सारी सुविधाएं उस तरह की नहीं थीं जिनके मैं अब और सिडनी आदी होने लगे थे। बिला शक मां ने इस बात को ताड़ लिया। जब हमें स्टेशन पर विदा करने के लिए आयी तो वह काफी खुश लग रही थी लेकिन हम दोनों ने सोचा, जब प्लेटफार्म पर खड़ी वह रुमाल हिलाती हमें विदा कर रही थी तो हमें वह चिंतित लगी।

हमारे तीसरे दौरे के दौरान मां ने हमें लिखा कि लुइस, जिसके साथ सिडनी और मैं केनिंगट रोड पर रहे थे, नहीं रही है। मजाक ही तो कहा जायेगा कि, उसकी मृत्यु भी लैम्बेथ यतीम घर में ही हुई जिस जगह पर कुछ अरसे

तक हमें रखा गया था। वह पिता जी के बाद सिर्फ चार बरस ही जी पायी थी और अपने बच्चे को यतीम छोड़ गयी थी। उस बेचारे को भी उस अनाथालय में ही रखा गया और उसे भी उसी हॉनवेल स्कूल में ही भेजा गया था जहाँ सिडनी और मुझे भेजा गया था।

मां ने लिखा था कि वह बच्चे से मिलने के लिए गयी थी और उसे बताने की कोशिश की थी कि वह कौन है और कि सिडनी और मैं केनिंगटन रोड पर उसके और उसके पापा...मम्मी के साथ रहे थे लेकिन बच्चे को कुछ भी याद नहीं था क्योंकि वह उस समय मात्रा चार बरस का ही था। उसे अपने पिता की भी कोई स्मृतियां नहीं थीं। अब वह दस बरस को होने को आया था। उसे लुइसके मायके वाले नाम के साथ रखा गया था और मां जहाँ तक पता लगा पायी थी, उसका कोई रिश्तेदार नहीं था। मां ने लिखा था कि वह खूबसूरत और शांत लड़का निकल आया था। वह शर्मीला और ख्यालों में खोया रहने वाला लड़का था। वह उसके लिए थैला भर मिठाइयां, संतरे और सेब लेकर गयी थी और उससे वायदा किया था कि वह उसके पास नियमित रूप से आती रहेगी और मेरा विश्वास है वह तब तक जाती भी रही होगी जब तक वह खुद बीमार हो कर फिर से केन हिल में वापिस न भेज दी गयी हो।

मां के एक बार फिर पागल हो जाने की खबर सीने में खंजर की तरह लगी। हमें पूरे ब्यौरे कभी नहीं मिल पाये। हमें सिर्फ एक शुष्क सरकारी पर्ची मिली कि वह बेमतलब और असंगत तरीके से गलियों में फिरती हुई पायी गयी थी। हम कुछ भी तो नहीं कर सकते थे सिवाय इसके कि बेचारी मां की किस्मत के लेखे को स्वीकार कर लें। उसके बाद उसका दिमाग फिर कभी पूरी तरह से ठीक नहीं हुआ।

वह कई बरस तक केन हिल पागल खाने में ही तब तक एड़ियाँ रगड़ती रही जब तक हम इस लायक नहीं हो गये कि उसे एक प्राइवेट पागल खाने में भर्ती करवा सकें।

कई बार बदकिस्मती के देवता भी अपनी चलाते-चलाते थक जाते हैं और थोड़ी-सी दया माया दिखला देते हैं जैसा कि मां के मामले में हुआ। अपने जीवन के अंतिम सात बरस मां को आराम से, फूलों से घिरे हुए और धूप से घिरे हुए बिताने का मौका मिला। वह अपने बड़े हो गये सपूतों को यश और किस्मत के उस स्तर को भोगते देख सकी जिसकी उसने कभी कल्पना की थी।

शरलॉक होम्स के तीसरे टूर के कारण ही सिडनी और मुझे मां को देखने आने में अच्छा-खासा वक्त लग गया। फ्रॉहमैन कम्पनी के साथ टूर हमेशा के लिए खत्म हो गया। इसके बाद थियेटर रॉयल, ब्लैकबर्न के मालिक मिस्टर हैरी यॉर्क ने फ्रॉहमैन से छोटे शहरों में खेलने के लिए शरलॉक होम्स के अधिकार खरीद लिये। सिडनी और मुझे नयी कम्पनी में रख लिया गया लेकिन अब हमारा वेतन घटा कर पैंतीस शिलिंग प्रति सप्ताह कर दिया गया था।

उत्तरी इंग्लैंड के छोटे शहरों में अपेक्षाकृत हल्के स्तर के कम्पनी के साथ नाटक खेलना घुटन पैदा करने वाला और स्तर से नीचे आने जैसा था। इसके बावजूद, इसने मेरे इस विवेक को समृद्ध किया कि जो कम्पनी हम छोड़ कर आये थे और जिसमें काम कर रहे थे उनमें क्या फर्क था। मैं इस तुलना को छुपाने की कोशिश करता लेकिन रिहर्सलों के समय, नये निर्देशक की मदद करने के उत्साह में मैं अक्सर उसे बताने लगता कि ये काम तो फ्रॉहमैन कम्पनी में इस तरह से होता था और फलां काम उस तरह से होता था। वह बेचारा तो मुझसे स्टेज डायरेक्शन, संवादों के संकेतों तथा स्टेज पर होने वाले कामों के बारे में पूछ लिया करता था। लेकिन सच तो यह था कि मैं अपनी इस हरकत से बाकी कलाकारों के साथ खास तौर पर लोकप्रिय नहीं हो पाया था और मुझे बड़बोले के रूप में देखा जाने लगा था। बाद में, नये स्टेज पर अपनी यूनिफार्म में से एक बटन खो देने के कारण मैनेजर ने मुझ पर दस शिलिंग का जुर्माना ठोंक दिया। इस बटन के बारे में वे मुझसे पहले भी कई बार कह चुके थे।

विलियम गिलेट, शरलॉक होम्स के लेखक, क्लारिसा नाम के नाटक में मारियो डोरो को ले कर आये। ये नाटक भी उन्होंने ही लिखा था। समीक्षक नाटक के प्रति और गिलेट की स्पीच के तरीके के प्रति बहुत बेरहम थे, जिसकी वजह से गिलेट साहब को एक पर्दा उठाऊ, कर्टेन रेजर नाटक द' पेनफुल प्रेडिक्टामेंट ऑफ शरलाक होम्स' लिखने पर मजबूर होना पड़ा। इसमें उन्होंने कभी एक शब्द भी नहीं बोला था। नाटक के पात्रों में सिर्फ तीन ही लोग थे, एक पगली, खुद होम्स और उनका पेज बॉय। जब मुझे मिस्टर पोस्टेंट, गिलेट के प्रबंधक से एक तार मिला तो मुझे लगा, मेरे लिए स्वर्ग से खास संदेश आ गया है। मुझसे पूछा गया था कि क्या मैं लंदन आ कर कर्टेन रेजर में विलियम गिलेट महोदय के साथ बिली की भूमिका अदा करना चाहूँगा?

मैं पेसोपेश के मारे कांपने लगा। मेरी चिंता यह थी कि क्या मेरी कम्पनी वाले इतने कम समय के नोटिस पर प्रदेशों में मेरी जगह कोई दूसरा बिली खोज

लेंगे। मैं कई दिन तक उहापोह वाले रहस्य में डूबता-इतराता रहा। अलबत्ता, उन्हें दूसरा बिली मिल गया।

लंदन में वपिस लौट कर वेस्ट एंड में नाटक करने के अनुभव को मैं सिर्फ अपने पुनर्जागरण के रूप में ही बयान कर सकता हूँ। मेरा दिमाग प्रत्येक घटना के रोमांच के साथ चकर-घिन्नी सा घूम रहा था। शाम के वक्त ड्यूक के यॉर्क थियेटर में पहुँचना और स्टेज मैनेजर मिस्टर पोस्टेंट से मिलना, जो मुझे मिस्टर गिलेट के ड्रेसिंग रूप में लिवा ले गये, और जब मेरा उनसे परिचय करवा दिया गया तो उनका मुझसे पूछा, '...क्या तुम मेरे साथ शरलॉक होम्स में काम करना चाहोगे?'

और मेरा उत्साह के मारे नर्वस हो जाना, ... 'ओह जरूर, मिस्टर गिलेट, जरूर जरूर...।' और अगली सुबह रिहर्सल के लिए स्टेज पर इंतजार करना और पहली बार मारियो डोरो को देखना। वे निहायत खूबसूरत सफेद रंग की गर्मी की पोशाक पहने हुए थीं। सुबह के वक्त इतनी खूबसूरत किसी महिला को देख लेने का अचानक झटका! वे दो पहिये की एक बग्घी में आयी थीं और उन्होंने पाया कि उनकी पोशाक पर कहीं स्याही का एक धब्बा लग गया है। वे नाटक की प्रापर्टी वाले से पूछना चाह रही थीं कि कहीं कुछ होगा इस दाग से छुटकारा पाने के लिए तो जब उस आदमी ने इस बारे में शक जाहिर किया तो उनके चेहरे पर खीझ के इतने शानदार भाव आये, 'ओह, लेकिन क्या ये इतना वाहियात नहीं है?'

वे बला की सुंदर थीं। मैं उनसे खफा हो गया। मैं उनके नाजुक, कलियों से खिलते हेंठों से नाराज हो गया, उनके एक जैसे सफेद दांतों से नाराज हो गया, उनकी मदमस्त ठुड्डी ने मुझे खफा कर दिया, उनके लहराते बाल, और उनकी गहरी भूरी आँखों ने मुझे नाराज कर दिया। मैं उनके नाराज होने की अदा पर नाराज हुआ और उस आकर्षण पर खफा हुआ जो उन्होंने इस बात को पूछते समय दिखाया था। इस पूछताछ के दौरान मैं उनके और प्रापर्टी वाले के बस एकदम पास ही खड़ा हुआ था, पर वे मेरी उपस्थिति से पूरी तरह अनजान थीं। हालांकि मैं उनके पास ही, उनकी खूबसूरती से ठगा और मंत्र बिद्ध सा खड़ा था। मैं हाल ही में सोलह बरस का हुआ था और इस अचानक चकाचौंध के सानिध्य ने मेरा यह पक्का इरादा सामने ला दिया कि मैं इससे अभिभूत नहीं होऊँगा। लेकिन हे भगवान! वे इतनी खूबसूरत थीं। ये पहली ही नजर में प्यार था।

द' पेनफुल प्रेडिक्टामेंट ऑफ शरलॉक होम्स' में आइरीन वानब्रुग नाम की एक बहुत ही उत्कृष्ट अभिनेत्री ने पगली की भूमिका की थी और नाटक में बोलने का सारा काम वही करती थीं जबकि होम्स चुपचाप बैठे रहते और सुनते। ये समीक्षकों पर करारा तमाचा था। मैरी के हिस्से में शुरुआती लाइनें थी, मैं होम्स के अपार्टमेंट में जा घुसता हूँ और दरवाजा थामता हूँ जबकि बाहर से पगली दरवाजा लगातार पीट रही है और जब मैं उत्साह में भर कर होम्स को ये समझाना चाहता हूँ कि क्या हो रहा है, पगली धड़धड़ाती हुई अंदर आती है। लगातार बीस मिनट तक वह किसी ऐसे मामले के बारे में आँय बाँय बकती रहती है जिसके बारे में वह चाहती है कि होम्स हाथ में ले लें। चोरी छुपे होम्स एक पर्ची लिखते है और घंटी बजाते हैं और वह पर्ची मुझे थमा देते हैं। बाद में दो हट्टे-कट्टे आदमी आ कर उस पगली को लिवा ले जाते हैं। मैं तथा होम्स अकेले रह जाते हैं। मैं कहता हूँ, '... आप ठीक कहते हैं सर, यह सही पागल खाना था।'

समीक्षकों को लतीफा अच्छा लगा लेकिन क्लारीसा नाटक जो गिलेट ने मैरी डोरो के लिए लिखा था, फ्लॉप गया। हालांकि उन्होंने मैरी की खूबसूरती के गुणगान किये थे लेकिन उन्होंने लिखा कि यही काफी नहीं मदोन्मत्त नाटक को बांधे रखने के लिए। इसलिए गिलेट ने उस सीजन का बाकी वक्त शरलॉक होम्स को फिर से नये सिरे से पेश करके गुजारा। मुझे इस नाटक में फिर से बिली की भूमिका के लिए रख लिया गया।

विख्यात विलियम्स गिलेट के साथ काम करने के अति उत्साह में मैं अपने काम की शर्तों वगैरह के बारे में बात करना ही भूल गया। सप्ताह खत्म होने पर मिस्टर पोस्टेंट मेरे पास आये और मुझे वेतन का लिफाफा देते हुए शर्मिंदा होते हुए कहने लगे, '...मैं तुम्हें ये राशि देते हुए वाकई शर्मिंदा हूँ लेकिन फ्रॉहमैन के दफ्तर में मुझे यही बताया गया था कि मुझे तुम्हें उतनी ही राशि देनी है जितनी पहले तुम हमसे लेते रहे थे।...दो पाउंड और दस शिलिंग।' मुझे ये राशि पा कर सुखद आश्चर्य हुआ।

होम्स की रिहर्सलों के दौरान, मैं मैरी डोरो से फिर मिला...वह पहले से भी ज्यादा खूबसूरत नजर आ रही थीं। मेरे इस संकल्प के बावजूद कि मैं उनकी खूबसूरती के जाल में नहीं फँसूंगा, मैं उनके मौन प्यार के निराशाजनक सागर में और गहरे धंसता चला गया। मैं इस कमजोरी से नफरत करता था और अपने चरित्र की कमजोरी के कारण खुद से खफा था। ये एक तरफा प्यार का मामला

था। मैं उनसे प्यार भी करता था और नफरत भी करता था। इतना ही नहीं, वह बला की खूबसूरत और भव्य थी।

होम्स में वे एलिस फॉकनर की भूमिका निभाती थीं। लेकिन नाटक के दौरान हम कभी भी नहीं मिले। अलबत्ता, मैं सीढ़ियों पर उनका इंतजार करता और वे जब गुजर कर जातीं तो गुड मार्निंग कह दिया करता। वे जवाब में खुश होकर गुड मार्निंग कहतीं और यही था जो हम दोनों के बीच हो पाया।

होम्स ने हाथों-हाथ सफलता के झंडे गाड़ दिये। नाटक जब चल रहा था तो रानी एलेक्जेंड्रा भी देखने आयीं। उनके साथ रॉयल बॉक्स में ग्रीस के राजा और प्रिंस क्रिश्चियन भी बैठे थे। प्रिंस महोदय राजा जी को जबरदस्ती नाटक समझाये जा रहे थे और ऐसे अत्यंत तनाव भरे और अशांत पलों में जब होम्स और मैं स्टेज पर अकेले होते हैं, पूरे थियेटर में गूँजती-सी एक आवाज सुनाई दी, '...मुझे मत बताओ, मुझे मत बताओ।'

डिऑन बाउसीकाल्ट का दफ्तर भी ड्यूक ऑफ यॉर्क थियेटर में ही था और आते-जाते वे मेरे सिर पर प्यार भरी चपत लगा दिया करते। हाल केन भी ऐसा ही करते। वे अक्सर गिलेट से मिलने बैक स्टेज में आ जाया करते। एक मौके पर तो मुझे लॉर्ड किचनर से मुस्कुराहट का भी सम्मान मिला।

जब शरलॉक होम्स चल रहा था, उन्हीं दिनों सर हेनरी इर्विंग का देहांत हो गया और मुझे वेस्टमिन्स्टर ऐब्बी में उनके अंतिम संस्कार में जाने का मौका मिला। मैं चूँकि वेस्ट एंड का एक्टर था इसलिए मुझे विशेष पास मिला और मैं इस बात से बेहद खुश हुआ। अंतिम संस्कार के वक्त मैं शांत लेविस वालर और डॉ. वाल्फोर्ड बोडी के बीच बैठा। लेविस उन दिनों लंदन के रोमांटिक अभिनेताओं के बेताज बादशाह थे और डॉक्टर बोडी की ख्याति रक्तरहित सर्जरी के कारण थी। उन पर मैंने बाद में एक रंगारंग कार्यक्रम में उनके पात्र का स्वांग किया था। वालर मौके की नजाकत के अनुरूप खूबसूरत तरीके से कपड़े पहने हुए थे और गर्दन अकड़ाये, सीधे बैठे वे न दायें देख रहे थे और न बायें। लेकिन डॉक्टर बोडी, बस इस कोशिश में कि वे हेनरी के ताबूत को नीचे अब उतारे जाते समय बेहतर तरीके से देख पायें, ड्यूक की छाती से उचक-उचक कर देखते रहे। जबकि वालर साहब को अच्छी खासी कोफ्त हो रही थी। मैंने कुछ भी देखने की कोशिश ही छोड़ दी और मेरे आगे जो लोग बैठे हुए थे, सिर्फ उन्हीं की पीठ की तरफ देखता रहा।

शरलॉक होम्स के बंद होने से दो सप्ताह पहले मिस्टर बाउसीकॉल्ट ने विख्यात मिस्टर और मिसेज कैंडल के नाम मुझे इस बात की संभावना के साथ एक परिचय पत्र दिया कि शायद मुझे उनके नये नाटक में कोई भूमिका मिल जाये। वे सेंट जेम्स थियेटर में अपने सफल नाटक के शो खत्म कर रहे थे। मिलने के लिए सवेरे दस बजे का समय तय हुआ। मैडम कैंडल मुझे फोयर में मिलने वाली थीं। वे बीस मिनट देरी से आयीं। आखिरकार, गली में एक आकृति उभरी। ये मिसेज कैंडल थीं। लम्बी तगड़ी, अभिमानी मोहतरमा। उन्होंने यह कहते हुए मेरा अभिवादन किया, 'ओह, तो तुम हो, छोकरे से!! हम जल्द ही प्रदेशों की तरफ एक नया नाटक ले कर जा रहे हैं। मैं चाहूंगी कि तुम हमें अपनी भूमिका पढ़ कर सुनाओ। लेकिन फिलहाल तो हम बहुत ही व्यस्त हैं। इसलिए तुम कल सुबह इसी वक्त यहां आ रहे हो!!'

'माफ करना मैडम,' मैंने ठंडेपन के साथ जवाब दिया, 'लेकिन मैं शहर से बाहर कोई भी काम स्वीकार नहीं कर सकता।' इसके साथ ही मैंने अपना हैट ऊपर किया, फोयर से बाहर आया, वहां से गुजरती एक टैक्सी रुकवायी और – मैं दस महीने तक बेकार रहा था।

जिस रात ड्यूक ऑफ यार्क थियेटर में शरलॉक होम्स का अंतिम शो हुआ, और मैरी डोरो को अमेरिका वपिस लौटना था, मैं अकेला ही बाहर निकल गया और शराब पी कर बुरी तरह से धुत्त हो गया। दो या तीन बरस बाद फिलेडाल्फिया में मैंने उन्हें दोबारा देखा। उन्होंने उस नये थियेटर का समर्पण किया था जिसमें मैं कार्नो कॉमेडी कम्पनी में अभिनय कर रहा था। वे अभी भी पहले की ही तरह खूबसूरत थीं। मैं विंग्स में अपना कॉमेडी का मेक अप किये हुए उन्हें देखता रहा था। वे भाषण दे रही थीं। मैं इतना अधिक शरमा रहा था कि आगे बढ़ कर उन्हें अपने बारे में बता ही नहीं पाया था।

लंदन में होम्स के समापन पर प्रदेशों में काम करने वाली कम्पनी के नाटक भी समाप्त हो चले थे और इस तरह से सिडनी और मैं, दोनों ही बिना काम के थे। सिडनी ने अलबत्ता, नया काम तलाशने में कोई वक्त नहीं गंवाया। नाटकों से संबंधित एक अखबार ऐरा में एक विज्ञापन देख कर वह सड़क छाप कॉमेडी करने वाली चार्ली मैनान की कम्पनी में शामिल हो गया। उन दिनों इस तरह की बहुत सारी कम्पनियां हुआ करती थीं जो हॉलों के चक्कर लगाती फिरती थीं। चार्ली बाल्डविन की बैंक क्लर्कस, जो बोगानी की लुनैटिक बेकर्स और बोइसेटे ट्रुप, ये सब के सब मूक अभिनय करते थे। हालांकि ये लोग प्रहसन

कॉमेडी करते थे, उनमें साथ साथ बजाया जाने वाला संगीत होता था और ये बहुत लोकप्रिय हुआ करते थे। सबसे उत्कृष्ट कम्पनी कार्नो साहब की थी जिनके पास कॉमेडियों का खजाना था। इन सबको बर्ड्स कहा जाता था। ये होते थे, जेल बर्ड, अर्ली बर्ड्स, ममिंग बर्ड्स। इन तीन स्केचों से कार्नो साहब ने तीस से भी ज्यादा कम्पनियों का थियेटर का ताम झाम खड़ा कर लिया था। इनमें क्रिसमस पेंटोमाइम और खूब ताम झाम वाले संगीत कार्यक्रम होते। कार्नो साहब के इन्हीं नाटकों की देन थी कि वहां से फ्रेड किचन, जॉर्ज ग्रेव्स, हैरी वैल्डन, बिल रीव्ज, चार्ली बैल और दूसरे कई महान कलाकार और कॉमेडियन सामने आये।

ये उसी वक्त की बात है जब सिडनी मेनान ट्रुप के साथ काम कर रहा था और उसे फ्रेड कार्नो ने देखा और चार पाउंड प्रति सप्ताह के वेतन पर रख लिया। चूंकि मैं सिडनी से चार बरस छोटा था, इसलिए मैं किसी भी थियेटर के काम के लिए न तो बड़ों में गिना जाता और न ही छोटों में ही, लेकिन मैंने अपने लंदन के दिनों में किये गये काम से कुछ पैसे बचा कर रखे थे, और जिस वक्त सिडनी प्रदेशों में काम करता घूम रहा था, मैं लंदन में ही रहा और पूल के खेल खेलता रहा।

6

हिंदी आत्मकथा साहित्य

नई सदी के हिंदी आत्मकथा साहित्य पर चर्चा करते समय सबसे पहले तो यह तथ्य विचारणीय है कि नई सदी या उसके आरंभ से ठीक पूर्व के दशक में प्राय: सभी भारतीय भाषाओं में आत्मकथा साहित्य ने नई करवट ली। इससे पहले यह समझा जाता था कि आत्मकथा का चरितनायक कोई 'महापुरुष' होना चाहिए। शायद यही कारण है कि आत्मकथाएँ अपेक्षया कम लिखी जाती थीं। लेकिन 1990 के दशक के आस-पास महान नायकत्व का यह महा-आख्यान टूटा और कल तक जिन्हें लघु, तुच्छ, हीन कहकर हाशिए पर रखा गया था उन अति साधारण मनुष्यों ने अपनी अस्मिता की खोज करते हुए अभिव्यक्ति के जो मार्ग तलाशे उनमें उनकी पीड़ा, कड़वाहट, खिन्नता, संघर्ष और गुस्से को व्यक्त करने के लिए आत्मकथा सबसे उपयुक्त विधा सिद्ध हुई. स्त्री, दलित, आदिवासी आदि समुदायों से आने वाले इन लेखकों के भीतर सदियों का जो हाहाकार समाया हुआ था उसे व्यक्त होने के लिए किसी काल्पनिक वृत्त की आवश्यकता नहीं थी, उसकी सीधी, सच्ची, बेबाक अभिव्यक्ति ने आत्मकथा का जो रास्ता चुना वह उसकी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता की स्वयं गारंटी है।

यहाँ केवल दो साहित्यकारों की आत्मकथा का उल्लेख किया जा रहा हैं। एक हैं मैत्रेयी पुष्पा जिनकी आत्मकथा दो खंडों में आ चुकी है–'कस्तूरी कुंडल बसै'(2003) और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' (2008). दूसरे रचनाकार हैं– डॉ. तुलसीराम. इनकी आत्मकथा भी दो खंडों में है–'मुर्दहिया' (2010) और 'मणिकर्णिका' (2014). ये दोनों ही रचनाकार स्त्री विमर्श और दलित विमर्श

के अग्रणी हस्ताक्षर हैं और इनकी आत्मकथाएँ केवल इसलिए महत्वपूर्ण नहीं हैं कि वे किसी एक स्त्री या किसी एक दलित के जीवन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हैं, बल्कि इसलिए अधिक महत्वपूर्ण हैं कि विशिष्ट होते हुए भी अपने संघर्ष के धरातल पर ये दोनों ही लेखक क्रमशः 'सामान्य स्त्री' और 'सामान्य दलित' हैं। साधारणीकरण की पहली शर्त ही यह है कि आलंबन अपने वैशिष्ट्य को छोड़कर इस तरह सर्वसाधारण बन जाए कि आलंबन-धर्म का संप्रेषण सहज संभव हो। इस कसौटी पर मैत्रेयी पुष्पा और डॉ. तुलसीराम की ये आत्मकथाएँ एकदम खरी हैं क्योंकि मैत्रेयी पुष्पा यहाँ 'व्यक्ति मैत्रेयी पुष्पा' नहीं हैं बल्कि उनका 'स्त्री होना' पूरी गाथा के केंद्र में है। इसी प्रकार डॉ. तुलसीराम यहाँ 'व्यक्ति तुलसीराम' के रूप में केंद्र में नहीं हैं बल्कि अपने पूरे समुदाय के 'दालित्य-भाव' को अग्रप्रस्तुत करते हैं अर्थात पहले की, महापुरुषों की, आत्मकथाओं की तुलना में 21वीं सदी के इन रचनाकारों की आत्मकथाएँ साधारण स्त्री और साधारण दलित की ऐसी आत्मकथाएँ हैं जिनमें निहित स्त्री-पीड़ा और दालित्य-भाव आलंबन-धर्म के रूप में साधारणीकृत होकर पाठक को विचलित करते हैं। ये आत्मकथाएँ प्रेरणा का आदर्श स्थापित करने के लिए नहीं हैं बल्कि परिवर्तन की बेचैनी पैदा करने के लिए हैं। ऐसे अनेक उदाहरण दोनों आत्मकथाओं से दिए जा सकते हैं जहाँ ये रचनाकार अपने आत्म को अनावृत करने के बहाने समाज के घिनौने चेहरे का पर्दाफाश करते हैं। इसलिए, मैत्रेयी पुष्पा और तुलसीराम का आत्मकथा-लेखन केवल रचनाकार का आत्मालोचन नहीं है बल्कि अपने आपको खतरे में डालकर की गई निर्मम समाज-समीक्षा है।

'कस्तूरी कुंडल बसै' में लेखिका का मुख्य उद्देश्य अपने पारिवारिक और दांपत्य जीवन की सच्चाई का बयान करना भर नहीं है। बल्कि जैसा कि अमरीक सिंह दीप कहते हैं, 'मुख्य मुद्दा तो पुरुषवादी व्यवस्था द्वारा स्त्री पर लादी गई गुलामी से मुक्ति और स्त्री सशक्तीकरण का ही है। बेशक इस आत्मकथा में स्त्री के अंतर्जगत के कई ऐसे अछूते स्थलों, कई ऐसे गुप्त गृहों और उनमें रखे बक्से, पिटारियों और पोटलियों से पाठक का साक्षात्कार होता है जहाँ अभी तक कोई कोलंबस नहीं पहुंचा। इसके लिए लेखिका ने अपनी कमजोरियों से भी जमकर मुठभेड़ की है।' दूसरे भाग 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैत्रेयी पुष्पा ने पत्नी-भाव और स्त्री-भाव के जिस द्वंद्व को उभारा है वह भारतीय समाज के मूलभूत द्वंद्व का प्रतिबिंब है। एक स्त्री के रूप में इस आत्मकथा की नायिका को बंधन रास

नहीं आते, बंधनों में वह छटपटाने लगती है। लेकिन पुरुष मानसिकता इस स्त्री मानस को समझने के लिए तैयार नहीं है और यहीं नैतिकता की पारंपरिक धारणा और उसके औचित्य पर स्त्री-कोण से विमर्श उभरकर सामने आता है। अस्मिता और नैतिकता के द्वंद्व में लेखिका किसी आदर्श को नहीं ओढ़तीं और उनकी गतिविधियाँ पारंपरिक स्त्री संहिता के प्रतिवाद की तरह उभरती हैं। मानना होगा कि मैत्रेयी पुष्पा ने डॉ. सिद्धार्थ के साथ अपने संबंधों को लगभग आत्महंता बेबाकी के साथ स्वीकार किया है। यहाँ सबसे दिलचस्प और नाटकीय संबंध है पति और मैत्रेयी के बीच, जो पत्नी की सफलताओं पर गर्व और यश को लेकर उल्लसित हैं मगर सम्पर्कों को लेकर 'मालिक' की तरह सशंकित। इस संबंध में नीचे एक दिया गया है–

'डॉक्टर सिद्धार्थ!'

मेरा हाथ पकड़कर उठाते हुए. पता नहीं कितना अपनत्व था, कितनी चुनौती थी?

या परीक्षाकाल दोनों का?

हाथ पकड़कर खींचने वाला मीत ... मैंने अनुमति के लिए पति की ओर देखा नहीं। अपना निर्णय अपने हाथ में ले लिया, खतरों के बारे में सोचा नहीं।

मैं नाच रही थी किसी के साथ-साथ, अनगढ़ और आदिम सा नाच ... जैसे मेरे जीवन-मूल्यों का हिस्सा यह भी हो। जब-जब मेरा पाँव डॉ. सिद्धार्थ के पाँव पर पड़ जाता, वे मुस्कुराकर मुझे संभाल लेते. यह परिचय का अगला चरण, उस जानकारी का मुझे कोई इल्म न था।''

बकौल जगदीश्वर चतुर्वेदी, "मैत्रेयी पुष्पा अपनी आत्मकथा में दोहरा जीवन, दोहरी अस्मिता, दुरंगे मूल्य, दुरंगे विचार, दोहरा सामाजिक जीवन आदि को बेपर्दा करती हैं। इस तरह वे दो मैं, दो अस्मिता, दो तरह का जीवन, दोहरी जिम्मेदारियाँ, दो तरह की चेतना, दो तरह के सामंजस्यहीन विचार और भावबोध को व्यक्त करने में सफल रही हैं। वे अपने जीवन में व्याप्त इस 'दो' को व्याख्या के जरिए बताती जाती हैं और उसके अनुभवों को ऐतिहासिक-सामाजिक संदर्भ में पेश करती हैं।''

अब कुछ बात डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा पर। 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' दोनों ही 'मशान घाट हैं। 'मुर्दहिया' इस अर्थ में अन्य दलित आत्मकथाओं से अलग है कि इसमें कथानायक ने स्वयं ही अपने स्थान पर अपने परिवेश और लोकजीवन को नायकत्व प्रदान किया है। वे मानते हैं कि उस दलित

बस्ती के अनगिनत दलित हजारों दु:ख-दर्द अपने अंदर लिए 'मुर्दहिया' में दफन हैं। यदि उनमें से किसी की भी आत्मकथा लिखी जाती तो उसका शीर्षक मुर्दहिया ही होगा। मुर्दहिया के नारकीय जीवन का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि वहाँ के दलितों को भुखमरी की स्थिति में चूहे मारकर खाने पड़ते हैं और चूहों के बिलों को खोदकर प्राप्त किए गए अनाज पर भी गुजारा करना पड़ता है। बिना टिप्पणी के एक उद्धरण प्रस्तुत है–

"शुरू-शुरू में जब तेज बारिश से कट चुकी फसलों वाले खेतों में पानी भर जाता, तो उनके अंदर बिल बनाकर रहने वाले हजारों चूहे डूबते हुए पानी की सतह पर ऊपर आ जाते थे. गाँव के बच्चे तरकुल या खजूर के पत्तों से बनी झाड़ू लेकर उन चूहों पर टूट पड़ते थे तथा उन्हें मार-मारकर ढेर सारा घर लाते. मैं भी अन्य बच्चों के साथ टिन की बाल्टी तथा झाड़ू लेकर जाता और झाड़ू से चूहों को मार-मारकर बाल्टी भर जाने पर उन्हें घर लाता। इन चूहों को पहले घर के लोग रहट्ठा यानी अरहर का डंठल जलाकर उस पर खूब सेंकते थे। इस तरह चूहों के बाल बिल्कुल जल जाते थे। इसके बाद उन्हें साफ करके बोटी-बोटी काट दिया जाता, फिर मसाला डालकर उसका मांस पकाकर खाया जाता था। इस तरह के मैदानी चूहों का मांस बहुत स्वादिष्ट होता था। उन बरसाती कड़की के दिनों में इस प्रकार के चूहे जब तक उपलब्ध रहते सभी दलित दाल-सब्जी के बदले उन्हीं से गुजारा करते थे. बरसाती मछलियाँ भी उस गरीबी में बड़ी राहत पहुँचाती थीं, किंतु वे कुछ देर से नदी-नालों में उपलब्ध होती थीं. जहाँ तक चूहों का सवाल है, वे जौ और गेहूं की बालियाँ अकसर काटकर खेतों में ही अपनी गहरी-गहरी बिलों में ढेर सारा जमाकर लेते। गाँव के मेरे जैसे बच्चे उन बिलों को खोदकर उससे बालियाँ निकाल लेते थे। एक-एक बिल से एक से लेकर दो किलो तक अनाज निकल जाते थे।"

ऐसे जीवित 'मसान से भागकर तुलसीराम बनारस पहुँचते हैं। जहाँ वे क्रमश: अंधविश्वासी मान्यताओं से लेकर ईश्वर तक से मुक्त होते हैं। इस मुक्तियात्रा में बुद्ध और मार्क्स उन्हें रास्ता दिखाते हैं और वे ऐसी विश्व-दृष्टि से अपने आपको जोड़ते हैं जिसके चलते उनका व्यक्तिगत दु:ख दुनिया के दु:ख में मिलकर अपना अस्तित्त्व खो बैठता है। 'मुर्दहिया' में जो विचार सुप्त अवस्था में थे, वे 'मणिकर्णिका' में विकसित हुए। चाहे क्रांति का सपना हो या एक तरफा प्यार। दोनों का लेखक ने खूब मजा लिया और उसके बाद वे दिल्ली चले गए. यदि जीवित रहते तो शायद दिल्ली के अनुभवों को भी तीसरे खंड में

लिखते। फिलहाल इतना ही कि 'मणिकर्णिका' बनारस के दोहरे बौद्धिक चरित्र का तो खुलासा करती ही है जिसमें छुआछूत और सर्वसमावेशी औघड़पना एक साथ विद्यमान हैं, साथ ही समसामयिक चुनावी राजनीति से लेकर नक्सलवाद तक की भी पड़ताल करती है।

अभिप्राय यह है कि मैत्रेयी पुष्पा और डॉ. तुलसीराम दोनों ही की आत्मकथाएँ 'आत्म' के बहाने समाज को आईना दिखाने वाली उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियाँ हैं और नई सदी के तमाम मुख्य रुझानों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

❐❐❐

,